लेखक
श्री हीरामुनि 'हिमकर'
श्री खरतरगच्छीय ज्ञान मन्दिर, जयपुर

प्रकाशक
श्री सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा-२

सन्मति साहित्य रत्न माला का १०२ वां रत्न

पुस्तक :
विचार ज्योति

लेखक :
श्री हीरामुनि 'हिमकर'

प्रकाशक :
सन्मति ज्ञान पीठ
लोहामण्डी, आगरा-२

प्रथम वार .
दिसम्बर १९६७

मूल्य
एक रुपया पचास पैसे (१ ५०)

मुद्रक :
अर्जुन प्रिंटिंग प्रेस,
राजामण्डी, आगरा।

समर्पण

जिन्होंने मुझे साधना की प्रथम प्रेरणा प्रदान की

जिनका जीवन

हिमालय से भी अधिक महान्

और

सागर से भी अधिक गभीर है

उन्ही प्रेरणामूर्ति सदगुरुणी जी

श्री शीलकुवर जी महाराज

के

कर-कमलो मे

समर्पित

—हीरामुनि 'हिमकर'

पुस्तक प्रकाशन में
अर्थ सहयोगी महानुभावों के शुभ नाम

मोतीलाल जी हरखचद जी कोठारी	वालकेश्वर 'वम्वई'
हिमतमल जी भगा जी	आईपुरा 'मारवाड़'
जुआरमल जी भगा जी	,, ,,
प्रतापमल जी भगा जी	,, ,,
श्रीमती हरकुबाई जीतमल जो	,, ,,
श्रीमती मकुबाई जी नथमल जो	रतलाम 'मालवा'
तुलसीराम जी धना जो	कमोल 'मेवाड़'
मगनीराम जी अचला जी	सादडी 'मारवाड़'
स्थानकवासी जैन श्रावक सघ	सेमल 'मेवाड'
स्थानकवासी जैन श्रावक सघ	कमोल 'मेवाड'

आशीर्वचन

श्री हीरामुनि जी मधुर एवं सरल प्रकृति के सन्त हैं। मैंने जब भी उन्हें देखा उनकी प्रसन्न मुखमुद्रा पर बालक की सहज सरलता छलकती देखी।

जैसे सरल एवं मधुर वे हैं, वैसी ही उनकी विचार ज्योति भी है। इस में न शब्दों का आडम्बर है न पाण्डित्य प्रदर्शन की चेष्टा है और न विषय को गंभीर व अगम्य बनाने का प्रयास ही। जीवन और जगत के सम्बन्ध में जो अनुभूतियां उनके मन में जागृत हुई वातावरण के जो प्रतिबिम्ब उनके विचारों पर अंकित हुए बस उन्हें ही सहज सरल माध्यम से विचार ज्योति में प्रस्तुत कर दिया है।

मुझे आशा है कि जैसा उनका हीरा नाम है, उसी के अनुरूप उनके विचार हीरों की यह विमल ज्योति भी पाठकों को भायगी और चिन्तन की दिशा में कुछ प्रकाश देगी। लेखक की साहित्योपासना निरंतर गतिशील रहे, और विचारों की ज्योति निरंतर प्रज्ज्वलित होती रहे, इसी शुभाशा के साथ

जैन स्थानक भवन,
मानपाड़ा, आगरा।

—उपाध्याय अमर मुनि
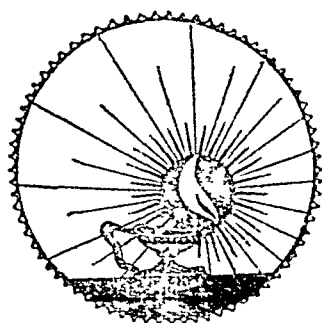
प्रकाशकीय

'विचार-ज्योति' स्वय मे प्रकाशमान है, उसे प्रकाशित करने की कोई अपेक्षा नही रहती, फिर हम कैसे कहे कि 'विचार ज्योति' का प्रकाशन किया गया है।

बात यह है कि कुछ समय पूर्व श्री हीरा मुनि जी का एक 'निबन्ध सग्रह' बम्बई से उपाध्याय श्री जी की सेवा मे आया और साथ मे एक पत्र भी। पत्र की सरल एव सात्विक भाषा ने उपाध्याय श्री जी के निर्मलमानस को गद्-गद् कर लिया। और नवलेखन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने की दिशा मे तत्काल ही प्रकाशनाधीन साहित्य की सूची मे रखने का सकेत मिल गया कि श्री हीरामुनि जी जैसे सरल, सात्विक एव मस्त मुनिराज के निबन्धो मे अवश्य ही एक सरलता, तरलता सात्विकता और विचारो की सहज सुबोधता मिलेगी जिसकी आज के पाठक को नितान्त अपेक्षा रहती है।

निवन्ध संग्रह का नाम पहले 'आत्मा की आग' थी पर वह सभी को ही। कुछ अटपटा सा लगा लेखक एवं निर्देशक की अनुमति से इसका यथार्थ नामकरण 'विचार ज्योति' हुआ और वह सबको पसन्द भी आया।

प्रस्तुत पुस्तक में जो विचार सामग्री मुनि श्री ने प्रस्तुत की है, वह आज वर्तमान की यथार्थ भूमिका को स्पष्ट करने वाली है। कहीं चिन्तन की अभिव्यक्ति बहुत तीव्र एवं प्रवाह-पूर्ण भी बन पड़ी है। निवन्धों में सर्वत्र ही रोचकता सरलता और अनुभूतिपूर्ण विचारों की मार्मिकता झलक रही है।

हम आशा करते हैं कि प्रस्तुत पुस्तक हमारे पाठकों को पसन्द आयेगी और विचारों की विमल ज्योति को प्रज्वलित करके नव आलोक प्राप्त करने में सहयोगी सिद्ध होगी।

—मन्त्री

सन्मति ज्ञान पीठ,

प्रस्तुत पुस्तक : एक मूल्यांकन

प्रस्तुत पुस्तक की अभिधा से ही यह स्पष्ट होजाता है कि इस पुस्तक मे विचारो की विमल ज्योति जगाने का एक लघु प्रयत्न लेखक ने किया है।

विचार ही जीवन का आधारभूत तत्व है। मानव को पृथ्वी पर तेजस्वी और विराट् रूप मे प्रस्तुत करने वाली शक्ति विचार ही है। विचारो की वह महाज्योति जव तक हृदय मे प्रज्ज्वलित नही होती, तव तक अनन्त अनन्त-काल मे छाया हुआ सघन अधकार नष्ट नही हो सकता और मानव अपने कर्त्तव्य कर्म की पहचान नही कर पाता, आगम की भाषा मे कहू तो विचारहीन व्यक्ति कि वा नाही सेय पावग श्रेय और अश्रेय को, पुण्य एव पाप को जान नही सकता और विना पुण्य पाप को जाने वह आचरण भी कैसे करेगा ?

जव तक विवेक ज्योति आत्मा को प्राप्त नही होती, तव तक उसकी क्रिया सम्यक्क्रिया नही, मिथ्याक्रिया है, अधीक्रिया है। अधीक्रिया से भव-भ्रमण घटता नही अपितु वढता है। साधक की प्रत्येक साधना यदि विवेक के विमल प्रकाश मे की जाती है तो विकार क्षीण होकर, विचार पीन होते है, वासना नष्ट होकर उपासना पनपती है, राग मिटकर वैराग्य जागृत होता है।

प्रस्तुत पुस्तक मे इसी प्रकार के विचारो का एव सुसबद्ध सकलन है। लेखक मुनि श्री ने विस्तार के साथ चर्चा की है। आत्मा, तप आदि विषयो पर गहराई से चिन्तन किया है। सारा विचार विवरण इतनी सरल और सुबोध भाषा मे रखा गया है कि पाठक पढते-पढते ऊबता नही है।

श्री हीरामुनि जी महाराज एक उत्साही लेखक है। उनके मन मे जोश है, उनका मानसिक जोश कही कही निबन्धो मे भी प्रस्फुटित हुआ है। सामाजिक समुत्कर्ष की तडपन भी उनके निबन्धो म झलक रही है। भाव, भाषा शैली सभी दृष्टियो से निबन्ध सुन्दर है, सुन्दरतर है। मुझे अच्छे लगे है, पाठको को भी अच्छे लगेंगे।

मेरे विचार से यह निबन्ध सग्रह पाठको के अन्तर्मानस मे विचार ज्योति प्रज्ज्वलित करेगा। उन्हे सद्प्रेरणा प्रदान करेगा। इसी आशा और विश्वास के साथ विरमामि।

हरखचन्द कोठारी हाल
राजहंस, ३ वस्ती
वालकेश्वर, बम्बई ६

—देवेन्द्र मुनि, शास्त्री साहित्यरत्न
१७-११ ६७

लेखक की कलम से

'विचार ज्योति' निवन्ध संग्रह अपने प्रेमी पाठको के हाथो मे अर्पित करते हुए मन प्रसन्न हो रहा है। निवन्ध कैसे है ? यह मेरे चिन्तन का प्रश्न नही है, प्रवुद्धपाठक स्वयं इसका मूल्यांकन करेगे।

परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य पण्डित प्रवर श्री पुष्कर मुनि जी महाराज की निरन्तर मुझे यह प्रवल प्रेरणा प्राप्त होती रही कि एक क्षण का भी प्रमाद न कर स्वाध्याय करो, जो पढो उस पर गहराई से चिन्तन करो और फिर उस पर लिखो, लिखने से विचार मंजते है, लेखनी मे निखार आता है। उन्ही के पथ-प्रदर्शन के फलस्वरूप ही मैं 'जीवन पराग' और 'जैन-जीवन' पुस्तके लिख सका तथा यह तृतीय उपहार भी भेट कर रहा हू। इस उपहार को सजाने व संवारने में मेरे लघु गुरु-भ्राता श्री देवेन्द्र मुनि, शास्त्री, साहित्य-रत्न तथा श्री गणेश मुनि जी शास्त्री का मधुर सहयोग भी अविस्मरणीय है, साथ ही श्री जिनेन्द्र मुनि जी, रमेश मुनि जी, राजेन्द्र मुनि जी एव पुनीत मुनि का प्रेम-पूर्ण व्यवहार भी लेखन कार्य में सहयोगी रहा है।

परम विदुषी साध्वी-रत्न श्री शीलकु वर जी महाराज को भूलना भी भयकर भूल होगी । जिन्होने मुझे सर्वप्रथम विचार ज्योति के दर्शन कराये, जिनके प्रेरणात्मक प्रवचन को श्रवण कर मैं सयम-साधना की ओर बढा ।

परमश्रद्धेय कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्र जी महाराज के उपकार को मैं भुला नही सकता, जिनकी कृपा से ही यह निबन्ध सग्रह सन्मति ज्ञान पीठ से प्रकाशित हो रहा है ।

—हीरामुनि 'हिमकर'

मनवार हिल बम्बई ६
१८ ११ ६७

अनुक्रमणिक

—o'—

विचार ज्योति

पथिक ने केवल सामान्य जिज्ञासा वश ही वे प्रश्न मुझ से पूछे होगे। किन्तु सयोग की वात है कि प्रश्न सीधे अन्तर मे उतर गये और मै अध्यात्म के सागर मे डूवकर विचारो के रत्न खोजने में लग गया।

पथिक को यथा परिस्थिति स्थूल उत्तर देकर मैं आगे चल पड़ा—विचारो मे निमग्न।

यह घटना सन् १९६१ की है। तव हम अरावली के पहाडी प्रदेशो मे धर्म प्रचार के लिए विचरण कर रहे थे। उसी समय से मै उन प्रश्नो का उत्तर खोजने मे लग गया।

कौन हूं मै ? कौन है तू ? कहाँ से आए हम ? कहाँ जायेंगे ? क्या गन्तव्य है हमारा ? हमारे माता-पिता कौन हैं ? यह ससार क्या है ? ये सम्वन्ध कैसे है ?—

"कोऽहं, कस्त्वं, कुतः आयातः ?
का मे जननी, को मे तातः ?
इतिपरिभावय सर्वमसारम्
सर्वं त्यक्त्वा स्वप्नविचारं।"

—कुछ नही, केवल स्वप्न है। जन्म, जीवन, मरण सभी कुछ एक स्वप्न है। अस्थिपिंजर तथा मास-पिंड तो सदा से नाशवान है ही। तव सार क्या है ? सत्य क्या है ? क्या इस निराशा के घने अन्धकार मे प्रकाश देने वाला सूर्य की भाँति प्रकाशित केवल अमर आत्मा ही नही है ?

इस आत्म-तत्व की खोज भारतीय तत्व चिन्तन का मूल-विन्दु है। भारत दार्शनिकों का देश है। अनेक विचार सरणियाँ इस देश की उर्वरा भूमि मे उत्पन्न होती रही है

और आज भी वह धारा रुकी नहीं है। भगवान महावीर, महात्मा बुद्ध, राम-कृष्ण आदि महर्षियों ने गम्भीरता से इस गहन आत्म तत्व का अन्वेषण किया है। वही चिन्तन आज हमारे पथ मे प्रकाश बिखेर रहा है।

अवश्य ही धर्म भिन्न भिन्न है। विचार भी पृथक पृथक हैं। किन्तु फिर भी प्रत्येक धर्म की विचार धारा में आत्मा के सुख दुःख, पाप पुण्य के विषय मे प्रश्न उठाये गये हैं। मुस्लिम धर्म का ही विचार कीजिए—

कहा खैरात क्या की, राह मौला मे दिया क्या है ?
यहाँ से आकिवत के वास्ते सौदा लिया क्या है ?

—कहिए क्या दिया है आपने 'मौला' की राह मे ? परमेश्वर के पथ में आपने क्या खैरात की है, क्या दान दिया है ? आपने मृत्यु के पश्चात अपने जीवन के लिये क्या सौदा लिया है ? क्या तैयारी की है ? कुछ दिया भी है अथवा नहीं ?

और भी देखिए—

जो पूछे जायगे_ मशहूर में ये ये हाल है तेरे,
अगर कुछ साथ जायेंगे नेकी बदी माल हैं तेरे।

—तो क्या कुछ नहीं जायगा साथ ? केवल नेकी और बदी —जो भी मनुष्य करे, वही साथ जायगी ? तब क्या करना चाहिये हमें ?

स्पष्ट है कि नैतिक जीवन यापन के लिए ही यह उपदेश मुसलिम धर्म मे दिया गया है। इस उपदेश को हृदयगम करके मनुष्य को सच्चा रास्ता खोजना चाहिए।

हिन्दू-मुस्लिम समाज के महर्षियो ने आत्म-तत्व पर विचार किया अवश्य है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होने अपने-अपने समाज की परम्परा के अनुसार ही यह विचार किया है। ऐसा करने पर एकागी विचार होने का भय रहता है। जिस मनुष्य ने जिस सस्कृति मे जन्म लिया, उसी संस्कृति के प्रभाव मे आकर वह आत्म तत्व के विपय मे विचारने लगा। जैसे-जैसे गुरु मिलते गये वैसे ही शिष्यो की विचारणा चलने लगी—

"कोई कहे राम जी, कोई कहे अल्ला,
जसे-जैसे गुरु मिले, वैसी दी सल्ला।"

किन्तु हमे सच्चे आत्म तत्व की खोज करनी है। किसी भी समाज अथवा सस्कृति विशेष के परम्परागत विचारो से वँधकर हम नही चलना चाहते। अतः आइए हम विभिन्न मत-मतान्तरो पर विचार से प्रारम्भ करे।

वैष्णवों की आत्म-मान्यता

अद्वैत विचार सरणि आत्मतत्व का मौलिक रूप लेकर चली अवश्य, किन्तु आगे चलकर उसने जड़ सृष्टि और चेतन सृष्टि को एक रूप स्वीकार कर लिया। जीवधारी प्राणियो के लिए उसमे जीव, सत्व, पुद्गल—जहाँ, जैसा भी प्रसग आया वैसा ही मान लिया। इस कारण स्पष्टता का अभाव उसमे उत्पन्न हुआ।

पं० सुखलाल जी के शब्दो मे—'कही पर सत् को मूल तत्व मानकर उसमें से जड-चेतन रूप नाना सृष्टि का विकास वर्णित है, कही पर असत् को मौलिक मान कर उसका विकास दर्शाया

गया है तो कही पर आत्म शब्द से मूल तत्व का उल्लेख करके उसका विकास दिखलाया गया है।" देखिए—

"एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा।"

(छान्दोग्योपनिषद)

रजस, तमस एवं सत्व—उन तीन गुणो से आत्मतत्व का निर्माण होना माना गया। उसे 'प्रकृति' भी कहा गया।

अद्वैत विचार सरणि मे सांख्य, वशेषिक, नैयायिक आते हैं। इन तीनो से कुछ पृथक चार्वाक-बृहस्पति मत है। हुआ यह कि चार्वाक-बृहस्पति की बहिन बाल-विधवा हो गई। बहिन के जीवन को रसमय बनाने के उद्देश्य से उन्होंने पाप पुण्य, परलोक आदि उत्तम सिद्धान्तो को समाप्त कर दिया। उन्होंने प्रचार किया कि सुख-दुःख, इच्छा एवं ज्ञान का आधार-रूप महाभूता से पृथक कोई आत्मा नही है। अत आत्मा के कल्याण की बात विचारना ही व्यर्थ है, इसी जीवन मे जो भी भौतिक सुख प्राप्त हो सकें, उन्हें प्राप्त करना चाहिए। वे कहते थे—"ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत।" ऋण लो और मस्त रहकर घी पिओ। कोई आत्मा नही हैं—'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत ?"—एक बार भस्म हो जाने के बाद देह का पुनरागमन कैसे हो सकता है ?

जैन भूतवादी हैं। जैसे— षड्दर्शोहिं भूपगार्भेहिं' —इसीलिये भूतवाद के खण्डन हेतु अद्वैतवादियो ने महाभूतो को स्वीकार किया। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु एवं आकाश—ये महाभूत

हुए। [1]महाभूत मिलने पर महान् (बुद्धितत्व) अथवा "मैं" यह ज्ञान उत्पन्न होता है। फिर आगे चलकर उससे स्पर्शन आदि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ—ये कर्मेन्द्रियाँ, एव मन और पॉच तन्मात्राए—गन्ध रसादि उत्पन्न होते है।

इन महाभूतो के मिलने पर जो चैतन्य रूप गुण उत्पन्न होता है, उन भूतो के नाश होने पर वह गुण भी यही नष्ट हो जाता है, आगे कुछ नही रहता। ऐसा चार्वाकों का मत है।[2]

आत्म स्वरूप के ज्ञाता महर्षिजन अपने मन्तव्य विविध तरह से देते है, किन्तु चार्वाक (नास्तिको) के अलावा सभी महात्माओ ने आत्मतत्व का स्वीकार एकमत से किया है। इस आत्म तत्व को जानने की इच्छा उत्पन्न होनी चाहिए। जिसके हृदय मे ऐसी तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है, वही निकट भविष्य मे महात्मा वन जाता है। उपनिषदो मे वेदों की विचारधारा का उल्लेख है, अथवा ऐसा कहना अधिक सगत होगा कि वेदो का सार रूप उपनिषदो मे है।

महर्षि नचिकेता वडे भारी आत्म ज्ञानी हो गए। उनके पिता दान करने के लिए प्रसिद्ध थे। 'नही' करना उन्होने

---

१ संति पंच महब्भूया, इह मेगेसि माहिया।
पुढवी, आउ, तेउ वा वाउ अगास पचमा॥

२ ए ए पच महब्भूया तेब्भो एगोत्ति आहिया।
अह तेसिं विणासेणं, विणासो होइ देहिणो॥

(सूत्र कृताग, गा० ७—८)

सीमा ही नही था। परिणाम यह हुआ कि लोग उनके घर की प्रत्येक वस्तु उठा ले गए। केवल वे स्वय रहे और रहा नचिकता। तब नचिकेता ने पूछा—"पिता! आप मुझे किसे दग!"

पिता मौन रहे। तीन बार पूछने पर शायद कुछ खीझकर उन्होंने कह दिया—"तुझे दूँगा यम का।"

नचिकेता तो पिता की आज्ञा मान कर स्वय ही यम के पास चल दिया। यम के द्वार पर तीन दिन तक भूखे प्यासे पडे रहने के बाद यमराज आए। प्रसन्न होकर उन्होंने उसे तीन वर दिये। उनमे तीसरा है आत्म ज्ञान। उसने तीसरा वर मागते हुए कहा—"कुछ लोग कहते हैं कि मृत्यु के पश्चात् मनुष्य की आत्मा का अस्तित्व है, कुछ लोग कहते है कि नही। तब सत्य वात क्या है? आप मुझे यही बतादें, यही मेरा तीसरा वर है।[३]"

यमराज ने नचिकेता की नाना प्रकार से परीक्षा ली। अन्त मे उसे योग्य जानकर आत्मज्ञान दिया।

नचिकेता के उक्त प्रसग के समान ही सनत्कुमार और नारदमुनि की आत्म चर्चा भी पठनीय है। नारद सनत्कुमार

---

३ ये य प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये
अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्या मनुशिष्टस्त्वयाह,
वराणामेप वरस्तृतीय ॥

(कठोपनिषद् १—२०)

के पास आत्मज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से आते हैं और कहते है—"मैने ऋक् यजु, साम, अथर्व—ये चारो वेद इतिहास व्याकरण, गणित, तर्कशास्त्र, ज्योतिप आदि अनेक विद्याए पढी हैं, किन्तु मुझे केवल शब्द ज्ञान ही हुआ है और मैं शोक-मुक्त नही हो पाया हूं। मुझे ज्ञान दीजिए।"

नारद जी के उक्त प्रश्न से यह स्पष्ट होता है कि वेदादि विद्या लौकिक विद्या ही हैं। आत्मज्ञान इससे पृथक् ज्ञान है।

विष्णु और शिव अर्थात् ठाकुर जी और महादेव जी के कई अनुयायी अद्वैतवादी है। वे मानते है कि समस्त विश्व में ब्रह्म रूप एक ही आत्मा व्याप्त है। ईश्वर को जो सृष्टि-कर्त्ता न माने और वेदो को भी न पढे वे नास्तिक माने गये है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ये सव प्रचार वाद के है और मात्र सकीर्णता वश ही उत्पन्न हुए है। इस मान्यता के लिए मनुस्मृति का प्रमाण दिया जा सकता है।[४]

जहाँ तक गीता का प्रश्न है उसकी विचारधारा अति प्राचीन होनी चाहिए, क्योकि गीताकार ने आत्मा-सवधी जो चर्चा की है वह प्रत्येक बुद्धिजीवी आस्तिक मानव के हृदय में विना तर्क स्थिर हो जाती है। यदि श्रद्धा की नीव दृढ हो तो आत्म स्वरूप की विचार शैली स्वतः निर्मल हो जाती है।

गीता में आत्मा के चिरन्तन अस्तित्व के विषय मे सरल और स्पष्ट कथन है। गीताकार कहते है कि शरीर तो केवल

---

४ योऽवमन्येत ते मूने हेतु—शास्त्राश्रयाद् द्विज ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो, नास्तिको वेद निन्दकः ।

(मनुस्मृति)

आत्मा के आधार या रक्षा के हेतु वस्त्र के ही समान है। शरीर नये वस्त्रो को ग्रहण करता है और जीर्ण वस्त्रो का परित्याग कर देता है। उसी प्रकार आत्मा के लिए शरीर है।"[५] निश्चय ही गीता की यह शिक्षा बडी सुन्दर है।

इसी प्रकार आत्मा की अमरता प्रगट करते हुए गीता मे कहा गया है—

नन छिन्दन्ति शस्त्राणि नन दहति पावक ।
न चन क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत ।'

—न इसे (आत्मा को) शस्त्र छेद सकते है, न अग्नि जला सकती है, न पानी का इस पर कोई प्रभाव होता है और न ही इसे पवन सुखा सकता है। यह अविनश्वर आत्मा इन सब प्रभावो से परे—अजर तथा अमर है। कैसी विचित्र शक्ति है आत्मा मे। ससार की किसी जड वस्तु का इस पर कोई असर ही नही होता।

इसी प्रकार गीता आगे भी स्पष्ट करती है कि जो नही है वह उत्पन्न नहो हो सकता। जो है, उसका कभी किसी भी प्रकार नाश नही हो सकता।[६] सचमुच तत्त्वदर्शी यही मानते हैं कि जो सत् है वह कभी असत् नहीं हो सकता।

---

५ वासासि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा न्यन्यानि सयाति नवानि देही ॥
(गीता)

६ नासतो विद्यते भावो, ना भावो विद्यते सत ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्त स्त्व नयो स्तत्वदर्शिभि ॥
(गीता, अ० २—श्लो० २३, १६)

अपना कल्याण चाहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को इधर-उधर के अनेक प्रसंगो को त्यागकर आत्मचर्चा करना आवश्यक है। उस चर्चा मे ही निर्मलता आयेगी और पुण्य का पथ प्रशस्त हो सकेगा। ज्ञानियों-ध्यानियों, ऋषि-मुनियों की यही प्राचीन परम्परा है। महर्षि अप्पयदीक्षित ने कहा है कि नीति के ज्ञाता ज्योतिष, वेद आदि के जानकार तथा ब्रह्मज्ञानी भी अनेक है, हो सकते है, किन्तु आत्मज्ञानी कोई विरले ही होते है।[७]

अस्तु, मात्र लौकिक ज्ञान हमारी आत्मा का कल्याण नही कर सकेगा यह बात हमें पूरी तरह समझ लेनी चाहिये और पाँडित्य के प्रदर्शन के लोभ से स्वय को बचाकर, हमे अपनी ही आत्मा के कल्याण हेतु आत्म तत्व को भली प्रकार समझ और जान लेने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए।

कल्याण का मार्ग यही है, अन्य नही।

बौद्ध आत्म-विचारणा

आत्म तत्व गहन है। उसे समझना कठिन है। उस पर बौद्ध आत्म विचारणा को भली-भाँति हृदयगम कर पाना कुछ अधिक कठिन इसलिए हो गया है कि उसमे आस्तिकता तथा नास्तिकता—इन दोनो विपरीत किनारो को मिलाने का प्रयत्न किया गया है। नदी के प्रवाह की तरह एक मध्यम मार्ग बनाते हुए यह चिन्तन चला है।

---

७ नीतिज्ञाः नियतिज्ञा वेदज्ञा अपि भवन्ति शास्त्रज्ञाः।
　ब्रह्मज्ञाः अपि लभ्या स्वाज्ञान ज्ञानिनो विरला ॥

बुद्धदेव के चिन्तन में एक विचित्र बात यह है कि अहिंसा वादी होते हुए वे अपने मूल उपदेश मे आश्रव और सवर को ज्या का त्या स्वीकार करते हं किन्तु उसी उपदेश द्वारा वे आत्म तत्व का खण्डन करते हैं। घुमा फिराकर अपने विचार को वे इस प्रकार उपस्थित करते है कि उससे आत्मवाद विलीन हो जाता है।

उनके कथनानुसार आत्मा को न मानना सवर है और आत्मा का अस्तित्व स्वीकार आश्रव।[८] साथ ही वे कहीं पर आत्मा का स्वीकार करते हुए उसे पवित्र बनाये रखने को श्रेष्ठ भी मानते हैं।

आत्म तत्व के बिना आश्रव—सवर व्यथ हैं। आश्रव-सवर की तरह बुद्ध अपने मूल उपदेश मे पाच बातें विशेप बताते हैं—वे है पाँच स्कन्ध तथा पाच उपादान। रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान—ये पाचो ससारी आत्मा के आधार माने गये। फिर आत्मा के साथ काई सम्बन्ध भी स्वीकार नही किया है।

बुद्ध के उपदेश से ऐसा प्रतीत होता है कि वे जोव को अमान्य ठहराते हैं। उदाहरण के लिए, वे अपने शिष्य अनुराध से प्रश्न करते हैं—

---

८ सब्बासव—सुतन्त पृ० ७—(मज्झिम निकाय)

सारे आश्रवो (सब्बासव) के सवर (रोक) नामक उपदेश। इस प्रकार वह ठीक से मन में चितन करता है मै क्या हूँ? मै कैसा हू? ये सब प्राणी कहाँ स आये हैं मेरा आत्मा है यह मेरा आत्मा नित्य ध्रुव शाश्वत है।

"तुम क्या समझते हो, रुप जीव है ?"

"नही भन्ते ।"

"वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान—ये जीव है ?"

"नही भन्ते ।"

"इनसे भिन्न कही जीव है ?"

"नही भन्ते ।[९]"

इस प्रकार जीव तथा आत्मा के अस्तित्व का निषेध करते हुए बुद्ध ने अनेक सूक्त कहे है। किन्तु कुछ सूक्तो मे आत्मा का अस्तित्व स्वीकार भी है। वे अपने शिष्यो से कहते हैं—

"भिक्षुओ। यह ससार अनन्त है, निरन्तर आत्म-चिन्तन करो।[१०]

जिस प्रकार कुत्ता गडे हुए खूँटे मे बँधा हुआ उसी के चारो ओर घूमता है, उसी प्रकार अज्ञ जन समझते है कि यह मेरा है, यह मैं हूँ यह मेरा आत्मा है।

इसलिए, भिक्षुओ। निरन्तर आत्म चिन्तन करते रहना चाहिए।

भिक्षुओ! चित्त की गन्दगी से प्राणी गन्दे होते है। उसकी शुद्धि से शुद्ध होते है।

भिक्षुओ! चित्त के समान कोई अन्य वस्तु नही है।"

---

९ "अनुराध सुत्त"—२१—२—४४ संयुक्त निकाय, पृ० ३७२

१० "दुतिय गद्दुल सुत्त" २१—२—५८ सयुक्त निकाय।

उपयु क्त प्रसगा से यह सिद्ध होता है कि बुद्ध देव ने आत्म तत्व का स्वीकार किया । कि तु फिर मध्यममाग को जो उन्होने अपनाया है उसका कोई न कोई कारण तो अवश्य ही होना चाहिए।

वदिक दशन के विचारक अपने वेदो के प्रारम्भ काल मे आत्म तत्व को नही मानते थे। किन्तु सनातन काल से चले आने वाले आत्मवादियो के समक्ष वे अपने भूतवाद पर स्थिर नही रह सके। जब भूतवादियो ने आत्म तत्व को स्वीकारा तो प्राण मन और प्रना का मानकर आगे बढे।

उसके पश्चात तो वदिक परम्परा मे आत्मा का भारी प्रचार चल पडा।[११] नचिकेता, मैत्रेयी जसे भक्तो का नाम उल्लेखनीय हैं।[१२] एक समय ऐसा भी आया जब वदिक कमकाण्ड के सामने भारी विरोध उठ खडा हुआ। आत्म चर्चा के बल और पभाव से पशु हिंसा वन्द हो गई। किन्तु साथ ही यह भी हुआ कि आत्म चर्चा की अत्यधिकता हो गई, तब उसे कुछ सीमित करने की भी आवश्यकता का अनुभव हुआ।

बुद्ध ने इस बात को पहचाना कि वेदा के आधार पर प्राय प्रत्येक व्यक्ति मनमानी कल्पना करने लग गया। इससे उन्ह हानि होने की सम्भावना हुई। तब उस औपनिषदिक—आत्म विद्या के विरोध मे एक प्रतिक्रिया उठ खडी हुई। आत्म वाद की जो एक बाढ सी उस समय आ गई थी, उसे रोकने का

---

११ कठो० ११ २ ७६ बृहदा० २ २ ५

१२ आत्म मीमांसा—पृ० २७ लेखक—दलसुख मालवणिया।

कार्य ही बुद्ध ने किया। इससे प्रगट होता है कि मूलत बुद्ध आत्मवादी ही थे, किन्तु केवल समय और परिस्थिति को देखते हुए उन्हें कुछ सीमा तक आत्मवाद के विरोध मे उपदेश देना पड़ा।

किन्तु इतने से ही प्रश्न का समाधान नही हो सका। उन्होंने कर्मकाण्डियो के कपोल कल्पित आत्मवाद को तो रोका, यह ठीक किया, किन्तु दूसरी ओर घोर अनात्मवादी चार्वाक मतावलम्बियो ने जब प्रश्न किये तो उनका समाधान करने के लिए, ऐकान्तिक अनात्मवाद को रोकने के लिए उन्होंने कुछ सीमा तक आत्मवाद को मान्य किया। बुद्ध ने अद्वैतवादियों के एक ही ईश्वर मानने की बात का ही मुख्यत. विरोध किया था।

बुद्ध तथा चार्वाक के मत मे स्पष्ट भेद है। बुद्ध ने पुद्गल आत्मा, जीव, चित्त नाम की स्वतन्त्र किसी एक वस्तु को स्वीकार किया है। जबकि चार्वाक (नास्तिक) लोग पंच महाभूतो के अतिरिक्त और उनसे पृथक् किसी भी वस्तु की सत्ता को स्वीकार नही करते।

बुद्ध ने महाभूतो के समान ही एक विज्ञान (रूप) को मूल तत्व मान लिया। उनके मतानुसार जीव पुन. जन्म लेता है, वह अनित्य है। इस प्रकार बौद्ध मत में जन्म की अनादि परम्परा है जबकि चार्वाक मत मे जन्म जैसी लोक प्रसिद्ध बाते भी मान्य नही है। यही इन दोनो मे अन्तर है।

वास्तविकता यह है कि बुद्ध नही चाहते थे कि एकान्त रूप से वेदवादी अथवा उपनिषद् की मान्यता आए, और साथ ही

उन्हें यह भी स्वीकार नही था कि नास्तिक मत का ही प्रचार हो। अत आत्मा का आंशिक रूप से स्वीकार करते हुए भी जब कोई जिज्ञासु उनसे प्रश्न करता कि— 'भन्ते! यह वही है या भिन्न है?" तब ऐसे प्रसगो पर वे मौन ही रहते थे। इस प्रकार उन्होने मध्यममार्ग का अवलम्बन लेना ही उचित माना। उसी मध्यममार्ग का प्रचार उन्होने किया।

चाहे जन मत हो अथवा बौद्ध या सांख्य—ये तीनो ही जड—चेतन रूप दो तत्व का मानते हैं। मतभेद केवल शब्द प्रयोग का ही है। जसे, जड और चेतन को जन जीव और अजीव कहते हैं। बौद्ध इन्हें नाम और रूप कहते है तथा सांख्य दशन इन्हे पुरुष और प्रकृति कहता है। इतना अवश्य है कि बुद्ध ने नाम और रूप के साथ सस्कार, सज्ञा, विज्ञान एव पुद्गल को भी जोडकर आत्म तत्व को बडी उलझन म डाल दिया है। इसीलिये बौद्धमत "अशाश्वतानुच्छेदवाद" या "अव्याकृतवाद" नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कुछ भी हो बौद्धो का आत्मवाद है कुछ निराला और अस्पष्ट ही। अद्वैत दशन के साथ इसका विशेष विरोध होता प्रतीत होता है। जहा तक जैन दशन का प्रश्न है, उसमे आत्मवाद का सिद्धान्त इतना सुदृढ, सगत तथा मंजा हुआ है कि उसमे कही अवरोध आता ही नही। एक सुन्दर चिरन्तन प्रवाह की भाँति यह आगे बढता चला जाता है। जबकि अद्वैतवादी—वदिक विचार सरणि भी बौद्ध मत की तरह उलझी हुई ही है।

यद्यपि बौद्धो की आत्म विचारधारा जन विचारधारा से पूरी तरह मेल नही खाती, किन्तु उनकी दिनचर्या जना से अवश्य मिलती है। आत्म तत्व को वे स्वीकारते अवश्य ह।

एक वाक्य मे कहा जाय तो इस प्रकार कहा जा सकता है कि बौद्धो का आत्म विचार एक आकर्षक रेशमी धागे की तरह है—किन्तु उलझा हुआ।

अद्वैत में आत्मा मतभेद

वेद तथा उपनिषद् ससार एव मोक्ष को स्वीकार करते है। अद्वैत मतानुसार मोक्ष तथा ससार—सर्वत्र ही एक मात्र ब्रह्म (ईश्वर) व्याप्त है। उस ब्रह्म मे कोई परिवर्तन नही होता, जिस प्रकार लुहार का एरण सदैव एक सा ही रहता है।

"कोऽह द्वितीयो नास्ति"—केवल एक मैं ही हूं, द्वितीय अथवा अन्य कोई भी नही है—ऐसा उद्घोष वेद उपनिषदकारो द्वारा किया गया है। किन्तु ससार मे जन्म लेते हुए अनेक जीवो यथा पशु-पक्षी, देव-दानव, मानव इत्यादि को देखकर, उनके भिन्न-भिन्न सुख-दु.ख, हँसने-रोने को देखकर अनेक महर्षियो के मन मे प्रश्न उठे कि यह सब क्यो है? इन जीवो का आपस मे तथा ब्रह्म के साथ क्या सम्बन्ध है? उन्होंने विचार किया कि आत्मा परमात्मा के बीच जो भेद है उसे जाना जाय। किन्तु खेद है कि वे कोई भी परस्पर एक मत नही हो सके। भिन्न-भिन्न विचार धाराए ही सामने आई।

शकराचार्य—का मत है विवर्तवाद। वे कहते है कि वह ब्रह्म एक है, किन्तु अनादि अविद्या (अज्ञान) के कारण वही एक ब्रह्म अनेक रूपो मे हमे दिखाई देता है।[13]

---

१३ ईश्वर अश जीव अविनासी, चेतन अमल सहज सुख रासी।
सो माया वश भयो गुसाँई, बध्यो वीर मरकट की नाई॥
(तुलसीदास)

वे मानते है कि लोगो को अंधकार मे रस्सी को देख कर यकायक सर्प की कल्पना हो जाती है। किन्तु वास्तव मे वह सर्प नही, रस्सी ही होती है। वैसे ही ब्रह्म से पृथक् जीव होने का अनुमान मात्र मिथ्या-भ्रम ही है। यह भ्रम अविद्या के कारण होता है। यदि यह अविद्यारूपी पर्दा हट जाय तो ब्रह्म और जीव एक ही हैं। अर्थात् केवल एक ब्रह्म ही है। इसी मान्यता के कारण इस मत का "केवलाद्वैतवाद" कहा गया है।

विवर्तवाद तथा स्याद्वाद मे स्पष्ट भेद है। एक मे भ्रम है, जबकि दूसरे मे क्रम का स्वीकार किया गया है। जहाँ तक सिद्ध-स्वरूप का प्रश्न है, वहा एक अनेक का भेद है ही नहीं।[१४] रही बात जीव की, तो वह तो प्रत्यक्ष ही है कि हम स्वय अनेक साथियों के साथ चल रहे हैं। क्या हाथ कंगन का भी आरसी की आवश्यकता होती है ?

रामानुजाचार्य—का मत है विशिष्टाद्वैत। विशिष्ट अर्थात् कार्य-कारण भाव को एक रूप देना। इसके अनुसार ब्रह्म यदि कारण है तो कार्य भी है। अथवा यह कहे कि प्यास भी वही है और पानी भी वही। चित्त के दो रूप कहे गये हैं— सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म रूप के जो स्थूल रूप है उन्ही को जीव कहा गया है। इतना स्पष्ट है कि आचार्य रामानुज ने जीव अनेक नित्य एवं अणु परिमाण स्वीकार किये है।

---

१४ एक मांही अनेक राजै अनेक मांही एकक ।
एक अनेक की नहीं संख्या नमो सिद्ध निरंजन ॥

(सिद्ध स्तुति)

जीव और जगत दोनो ब्रह्म के कार्य-परिणाम है। अत. दोनो सत्य है, मिथ्या नही। मोक्ष मे भी जीव ईश्वर के पास रहता है। वह पृथक् है। एक कारण है अपर कार्य है किन्तु कार्य कारण का ही परिणाम है, अत इनमे अद्वैत-भाव है।

वल्लभाचार्य—का मार्ग शुद्धाद्वैत है। जगत का कर्त्ता ईश्वर है, किन्तु फिर भी ईश्वर मे कोई विकार नही। वही एक शुद्ध ईश्वर जगत रूप मे प्रगट होता है। माया अथवा अविद्या से कोई सम्वन्ध नही। वही एक शुद्धात्मा कार्यकारण है। अत जगत सत्य रूप है, मिथ्या नही।

जलती हुई अग्नि से स्फुलिग निकलते है' वे मूल अग्नि से अलग होते है, किन्तु फिर भी उनके मत मे वे अलग होते हुए भी मूल अग्नि के ही साथ है। उसी प्रकार सत् चित्—ये दो जीव रूप मे प्रगट होते है और आनन्द सव जीवो मे अप्रगट रूप से रहता है।

वल्लभ के अनुसार जीव त्रिविध है—शुद्ध (नित्यमुक्त) मुक्त और वद्ध। अविद्या के कारण जन्म मरण के चक्र मे पडे को वद्ध (ससारी) कहते है। जव अविद्या के कारण जीव के गुणो का तिरोधान नही होता तव उसे शुद्ध कहते है, जो जीव विद्या के द्वारा वन्धन से छूट जाते है उन्हे मुक्त कहते है।

जीव अणुपरिमाण है। किन्तु अणु परिमाण होकर भी अपने चैतन्य से वह समस्त शरीर को आच्छादित कर सकता है जिस प्रकार कि चदन अपनी सुगन्ध से दूर तक के प्रदेश को सुगन्धित करता है।

प्रपच अर्थात् अचेतन जगत् ब्रह्मात्मक है, किन्तु चैतन्य और आनन्द इस अवस्था मे तिरोहित रहते ह, सिफ सत्ता की ही अभियक्ति होती ह।

जीव नित्य है, अणु परिमाण है। ब्रह्म का अश है, अभिन्न है। अविद्या के कारण ही जीव ससार बसाता है। विद्या से अविद्या का नाश हो जाने पर जीव का ससार भी नष्ट हो जाता है।

कुल मिलाकर वल्लभ मत के विषय मे अनेक शकाए उत्पन्न होती है। जैसे—ईश्वर को ससार बसाने की आवश्यकता ही क्या हुई ? क्या मुक्ति के शान्त, एकात स्थान मे उनका मन नही लगा और उनके हृदय म "एको ह, बहुस्याम"—की इच्छा जागृत हुई ? और फिर एकात से घबराकर यदि ईश्वर ने ससार बसा ही लिया तब वह ससार के पाप पुण्य, मोह-माया आशा तृष्णा आदि स दूर कसे रह सकता है ?

अस्तु यह मत भी मान्य प्रतीत नहीं होता।

शव परम्परा—मे वेद और उपनिषदो को प्रमाण भूत नही माना गया है किन्तु अद्वैतवाद को वसा ही स्वीकार किया गया है। अनक जीव मान्य किये गए ह। इस परम्परा को प्रत्यभिज्ञा दशन भी कहा गया है।

इस परम्परा मे ब्रह्म के स्थानपर अनुत्तर नाम का तत्व माना गया है। इसी तत्व को शिव या महेश्वर अथवा महादेव कहा गया है। जीव तथा जगत की उत्पत्ति शिव से मानी गई है अत जीव जगत को सत्य तथा नित्य माना गया है।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि शैव भक्तो ने वेद-उपनिषद को न मानकर उसके सिद्धान्त को मान्य किया है। ऐसा क्यो ? ब्रह्म के स्थान पर उन्होने अनुत्तर तत्व को स्वीकार किया।

वेद और उपनिषद् पर महर्षियो ने स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी कल्पना की उडान भरी है। किन्तु प्राय सभी ने आत्मा को व्यापक माना है। भेद यही है कि ब्रह्म आत्मा को व्यापक तथा जीव आत्मा को अणु परिमाण माना है।

जबकि चार्वाक मत मे आत्मा का अस्वीकार करके भूतो का सग्रह मात्र देह को माना गया है। इसी प्रकार बौद्ध मत आत्मा को पुद्गल नाम से मानता है।

आत्मा को व्यापक मानने वाले वेदान्तियो के अनुसार मोक्ष अनावश्यक हो जाता है। क्योकि मल दूर हो जाने पर शुद्धात्मा जहाँ है वही स्थिर रहेगा। किन्तु अन्य दर्शनो द्वारा मोक्ष को मान्य करने पर प्रश्न उठने पर स्वीकारा गया कि ब्रह्म के समीप ही शुद्धात्मा को स्थान मिले।

इससे प्रगट होता है कि जैन दर्शन की मान्यता को सीधे स्वीकार न करके उसे "द्रविड प्राणायाम" से स्वीकार किया गया है।

जैनागम के अकाट्य आत्मा-प्रमाण

जैन दर्शन स्फटिक मणि के सदृश निर्मल एव स्पष्ट है। इस दर्शन का प्रत्येक तत्व अकाट्य एव मननीय है। यदि कोई व्यक्ति पूर्वाग्रहो को त्याग कर जैन धर्म तथा दर्शन का अध्ययन करे तो उसकी आत्मा मे ज्ञान एव पवित्रता का प्रकाश स्वत. ही प्रगट हो जाये। जैन दर्शन के सिद्धान्त महर्षियो की पुनीत बुद्धि रूपी छलनी से अत्यन्त सावधानी से छन-छन कर आये है।

उनमे विकार नही है, मिथ्या का कोई कूडा-करकट नही है। मनन-चिन्तन एव सीमित सम्भाषण त्यागियो का उत्कृष्ट व्यापार है। इसके द्वारा, आचार-विचार के सहारे, अज्ञान के अन्धकार मे भटकते नर-पशु को यहा प्रकाश का पथ दिखाकर विश्ववन्द्य बनाया जाता है। जन दशन मे प्रमाणहीन कपोल-कल्पना को कोई स्थान नही है।

जनाचार्यों ने आत्मा के विषय मे गहन-गम्भीर मनन किया है। अद्वतवादियो तथा बौद्ध की तुलना मे कई गुना अधिक विचार इस तत्व के विषय मे किया गया है। तीथकर सवज्ञ तथा सवदर्शी होते है। उनके प्रवचनो को प्रमाण माना गया है और उनमे आया हुआ आत्मा का उल्लेख ही सर्वाधिक मान्य किया गया है।

वेदान्तियो तथा नास्तिको द्वारा आत्मा एव शरीर को एक ही बताया और माना गया है। इसका मूल कारण तपस्या से दूर भागने की इच्छा और सयम से बचने की अभिलाषा ही हो सकता है। जबकि भगवान् महावीर ने कहा है कि आत्मा और शरीर एक नहीं, दो है—'जीवो उवओगलक्खणो'—आत्मा का उपयोग (ज्ञानादि व्यापार) ही लक्षण है। शरीर नाशवान् है तथा आत्मा अमर। वह जगत का अमर यात्री है। किन्तु ऐसा स्वीकार करने से नास्तिको को मनो-वाछित फल कसे मिले ? वे तो देह के सुख की कामना करते हैं अत वे आत्मा की अमरता को कैसे स्वीकारते ?

जिनवाणी मे शरीर और जीव का एक रूपक आया है—[१५]

---

१५ सरीर माहु नाव त्ति जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, ज तरति महेसिणो॥

—उत्तराध्ययन, अ० २३ गा ७३

यह ससार एक समुद्र है। शरीर नौका है। आत्मा उस नौका का नाविक है। कोई-कोई त्यागी-वैरागी-संयमी मुनिराज ही उस संसाररूपी अर्णव को पार करते है।

क्या इससे यह स्पष्ट नही कि शरीर से आत्मा पृथक् है। और क्या यह ज्ञान हो जाने के वाद भी मनुष्य शरीर सुख मे डूबकर आत्म-कल्याण की वात को भूल सकता है? जो मनुष्य ऐसा कर सकते है, वे निश्चय ही मूढ है, तथा ऐसे ही अज्ञानान्धकार मे भटकते हुए प्राणियो के लिए जैन-दर्शन एक ज्योतिर्मय प्रकाश-स्तम्भ की भाँति है।

भगवान महावीर के समय पशुयज्ञ तथा चार्वाक मत का वहुत प्रचार था। राजा प्रदेशी भी उसी मत का था, अत. इसका प्रचार और वढा। अन्त मे भगवान पार्श्वनाथ के शिष्य केसी मुनि के उपदेश से वह आत्मा और शरीर के भेद को समझा।[१] प्रदेशी राजा के द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर मुनि ने कहा—हम शरीर और आत्मा को भिन्न ही मानते है। जो जीव है, वही शरीर है, ऐसा नही है।

---

१ केसीकुमारसमणं एवं वयासी, तुब्भेणं भन्ते समणाणं निग्गंथाण एसा सण्णा एस परिण्णा, एसा दिट्ठी, एसा रुई एस हेउए........ ....

.... जहा अन्नो जीवो अन्नं सरीरं, नो तज्जीवो तं सरीर? तते ण केसीकुमार समणे पयेसी रायं एवं वयासी-पदेसी! अम्ह जाव एसा समोरसणे जहा अन्नो जीवो अन्नं सरीर नो तज्जीव त सरीर।

—राज प्रश्नीय प्रदेशी अधिकार सूत्र० ५३

प्रदेशी राजा का दादा अधर्मी (नास्तिक) था। दादी धर्मानुरागिनी थी। पुनरागमन आदि की चर्चा हुई। अन्त में राजा समझ गया और उसने आत्मा की अमरता को स्वीकार किया तथा यह समझ गया कि देह नाशवान है, उसके आकर्षण से सदव वचना ही उचित है।

आत्मा ही आत्मा का पुजारी बनकर अपने आप (आत्मा) को पवित्र बनाता आया है। जीव के लक्षण बताते हुए कहा गया है—

नाण च दसण चेव, चरित्त च तवो तहा।
वीरिय उवओगो य, एव जीवस्स लक्खण॥
—उत्तराध्ययन अ २८, गा ११

आत्मा की मूल पहिचान है ज्ञान। जो ज्ञान है वही आत्मा, तथा जो आत्मा है वही ज्ञान है।[१७] इनमें सामान्य और विशेष कौन? प्रकाश को देखो, आवाज को सुनो। दोनों म उतार-चढाव आता है। प्रकाश घटता है, बढता है। आवाज धीमी होती है, तीव्र होती है। इसी प्रकार आत्मा का ज्ञान है।

आत्मा और ज्ञान का सम्बन्ध गुण और गुणी का सम्बन्ध है। क्या गुण गुणी से पृथक् हो सकता है? नही। इसी प्रकार आत्मा गुणी है और ज्ञान गुण। जिस प्रकार मिश्री और उसकी

---

१७ जे आया से विन्नाया
ज विन्नाया से आया।
—आचाराग सूत्र

मधुरता अलग नही हो सकते, उसी प्रकार आत्मा और ज्ञान भी एक है, वे पृथक् नही हो सकते। उनका सम्वन्ध अमर है।

अवश्य ही एक शका यहाँ की जा सकती है—

शका—घट यदि नाशवान है तो उसका रग भी नाशवान है। इस तर्क से यदि ज्ञान का नाश होगा तो आत्मा का भी नाश होना चाहिए। ऐसा है तो फिर वौद्धमत ठीक हुआ।

उत्तर—ऐसा नही है। ज्ञान के नाश होने से आत्मा का नाश नही होगा, क्योकि आत्मा मे अमूर्तत्व, असख्यात प्रदेशित्व तथा अगुरु-लघुत्व जैसे गुण है। ये गुण नित्य है। अस्तु, आत्म द्रव्य नित्य हुआ। न उसकी उत्पत्ति है, न नाश।

इसी भाँति एक साधक ने भगवान महावीर से पूछा—
"भगवन ! ससार में जड पहले आया या आत्मा ?"
भगवान ने उत्तर दिया—

"जड़ और आत्मा दोनो अनादि है। इनके आने-जाने का कोई क्रम नही। इनका कोई अन्त ही नही। ये अमर है।"

आत्मा का द्रव्य क्षेत्र

[१८]गुण तथा पर्याय वाला द्रव्य है। आत्मा चैतन्य गुण है तथा नर-पशु आदि के नाना पर्याय धारण करने वाला है।[१९] वह अपने आप मे नित्य है। नाश को वह प्राप्त नही होता।

---

१८ गुणपर्यायवद् द्रव्यम्। —तत्वार्थ सूत्र
१९ तद् भावाव्ययं नित्यम्। — "

आत्मा वह चेतनमय द्रव्य है, जो जडता गुण से रहित है।[२०] आत्मा अपने आप में नित्य होते हुए भी जन्म मृत्यु रूप परिणमन से परिणत होता रहता है।[२१] षट द्रव्यों में जीव द्रव्य स्वतन्त्र माना गया है। इससे यह परिणाम निकलता है कि आत्मा तीनों लोकों में स्वतन्त्र रहने वाला है।

[२२]द्रव्य की अपेक्षा से जीव एक है और वह अन्त वाला है, औदारिक, वैक्रिय शरीर की अपेक्षा अन्त सहित होना चाहिए, क्योंकि इन शरीरों का उत्पाद व्यय होता रहता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है—इस चराचर ससार में आत्मा का बढना घटना कैसे होता है ?

उत्तर—कार्माण शरीर ससारी आत्मा के साथ सदा लगा रहता है। वह भी प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है। अनन्तानन्त परमाणुओं के प्रचय (सग्रह) रूप यह कार्माण तन है। इसका अनादि सम्बन्ध है।

एक ही जीव अनेक काला में अथवा अनेक जीव एक समय में भिन्न भिन्न परिणाम को प्राप्त करते है। यह कार्माण शरीर ही विभिन्न प्रकार के नर पशु-वनस्पति आदि रूप में परिणमन करता रहता है। औदारिक, वैक्रिय आदि शरीर कार्माण शरीर के अनुसार न्यूनाधिक परिमाण वाले होते हैं। इसी को द्रव्य आत्मा का सकोच विस्तार समझना चाहिए।

---

२० चैतन्यस्वरूप—प्रमाणनय तत्वालोक

२१ तद्भाव परिणाम।

—तत्वार्थ सूत्र—५ ४

२२ दव्वग्रोण एगे जीव स अन्ते।

(भगवती सूत्र)

जैनागमकारो ने आत्मा के सम्बन्ध मे सूक्ष्म चितन करने के पश्चात् आठ प्रकार की आत्मा कही है।[२३] उनमे प्रथम द्रव्यात्मा है। कुल आठ आत्मा इस प्रकार है—द्रव्य, कपाय, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य। द्रव्यात्मा अमर है, चाहे उसके साथ कपायादि रहे अथवा न रहे।

[२४]क्षेत्र की अपेक्षा से आत्मा असख्यात प्रदेश वाला और असख्यात प्रदेशो को अवगाह (स्पर्श) कर रहा हुआ है। लोकाकाश के असख्यातवे भाग मे जोव का अवगाहन है।

आत्मा मध्यम परिमाण वाला है। न वह अणु के समान छोटा है और न लोक-व्यापी। ऐसा माना जाता है कि आत्म-प्रदेशो की अपेक्षा से समान होने पर भी शरीर के अनुसार उसका फैलाव होता है। केवल ज्ञानी आत्मा मोक्ष जाने के समय जव समुद्घात करता है, तव सम्पूर्ण लोक मे फैलाव करता है।

आत्मा का काल-भाव

"कल्यते—परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति कालः।" जिसके द्वारा वस्तु जानी जाय, वह काल है। यह जानकारी कि यह दो दिन का वालक है, यह सोलह वर्ष का तरुण है, यह वृद्ध है आदि सव भौतिक देह का धर्म है। आत्मा का उससे सम्वन्ध नही। आत्मा तो नित्य है। और सदा समान रहता है।

---

२३ अट्ठविहा आया····
दवियाया····वीरियाया

(भगवती सूत्र)

२४ खेत्तओणं जोवे असंखेज्जपएसिए असखेज्जपएसोगाढे।

(भगवती सूत्र)

[२५]काल की अपेक्षा से आत्मा कभी न था, न रहेगा, ऐसा नही है। क्योकि वह तो नित्य है। उसका अन्त नही होता। भाव की अपेक्षा से आत्मा अनन्त ज्ञान पर्याय वाला है।

द्रव्य क्षेत्रापेक्षया जीव अन्त वाला है। वह अपने सीमित क्षेत्र मे रहता है।[२६]किन्तु काल और भावापेक्षया आत्मा अनन्त है, उसकी कोई सीमा नही।

आवश्यकता इसी बात की है कि हम यह ठीक प्रकार से समझलें कि मूल-द्रव्य आत्मा (मैं) क्या हू ? कौन हू ? मेरा निवासस्थान मेरे योग्य है या नही ? हम जो कि चारित्र पर्याय एव अनन्त अगुरु लघुपर्यायरूप है, उसे ठीक से समझ लेना चाहिए।

आत्मा अनन्त पर्याय वाला है। किन्तु कर्म वर्गणाओं को समझाने की दृष्टि से आचार्यों ने सम्यक्त्व के पाँच भाव कहे है।[२७] वे इस प्रकार हैं—

---

२५ कालओ ण आवे न कयाइ न आसी जाव निच्चे।
भावओ ण जीव अणतणाणपज्जवा।

(भगवती सूत्र)

२६ दव्वओ जीव समत खेत्तओ जीवे सअन्त।
कालओ जावे अणते, भावओ जाव अणते ॥

भगवती सूत्र—श० २, उ० १

२७ औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक पारिणामिकौ च।

—तत्त्वार्थ सूत्र

(१) कर्मो के दलिक दबा देना उपशम है।

(२) दलिको का नाश करना क्षय है।

(३) कुछ क्षय तथा कुछ दबाना मिश्र भाव है।

(४) उदय से होने वाला भाव औदयिक है।

(५) आत्मा का जो अनादि परिणमन है, सत्ता अथवा सत्ता का कारण, उसे पारिणामिक भाव कहते है।

आत्मा की अवस्था विशेष को यहाँ भाव कहा गया है।

सम्यक्त्व और चारित्र द्वारा कर्मदल को दबाया जाता है। दान लाभ, भोगोपभोग, वीर्य, ज्ञान, दर्शन आदि क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव मे है। औदयिक एवं परिणामिक भावो के भी भेद-प्रभेद कहे गए है। किन्तु विस्तार के भय से इस स्थान पर केवल आत्मा के मूल भावो का ही वर्णन किया गया है।

जहाँ तक आत्मा के मूल भाव का प्रश्न है, ज्ञान ही आत्मा का मूल भाव है। यदि निर्मल, शुद्ध, सत्य ज्ञान की प्राप्ति हो तो आत्मा भी निर्मल होगी। ज्ञान से यहाँ तात्पर्य मात्र भौतिक ज्ञान-विज्ञान से नही है। वह भौतिक ज्ञान तो केवल इस आकाश-पाताल को नापने के एक फीते के रूप मे ही उपयोग मे आ सकता है। आत्मा की निर्मलता उससे प्राप्त नही होती। वास्तविक ज्ञान तो वही है—जिसके द्वारा कर्मो का क्षय संभव हो, वही ज्ञान सच्चा ज्ञान है। वही आत्मा का सत्य स्वरूप है।

आत्मा ही कर्त्ता है

घडी हम सबको समय बताती है। अच्छी घडी हो तो हमेशा सही समय की वह सूचना देती रहेगी। उसमे चावी भरते रहिए वह चलती रहेगी।

किन्तु घडी के चलने की क्रिया स्वतन्त्र नही है। चावी भरे जाने पर वह आश्रित है। चावी भरने वाले हम और आप हैं। सभी जानते है कि घडी का निर्माण करने वाले तथा उसे गतिमान रखने वाले हम ही है। वह स्वय तो जड ही है, और हमारे चलाने से वह जड वस्तु कितनी भी चल, अन्तत वह जड ही रहेगी।

शुद्धाद्वैत मत कहता है कि जिस प्रकार घडी का निमाण मनुष्य ने किया, उसी प्रकार मनुष्य ईश्वर द्वारा पदा किया गया है। किन्तु जब यह पूछा जाता है कि ईश्वर स्वय कहा से आ गया ? तब उनके पास इस प्रश्न का कोई समुचित उत्तर नही मिलता।

घडी चाहे कितनी ही अच्छी हो, उसका कर्त्ता भिन्न है और वह स्वतन्त्र कर्त्ता नही है। परन्तु आत्मा स्वतन्त्र कर्ता है, उस कर्त्ता आत्मा की स्वतन्त्रता किसी पर आश्रित नही, वह अनादि है।

[२८]यह आत्मा स्वय ही दुखो का कर्त्ता एव विकर्त्ता है। यह सुप्रस्थित आत्मा स्वय ही मित्र तथा दुप्रस्थित स्वय ही शत्रु है।

---

२८ 'अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्त च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ॥'

—उत्तरा अ २० गा ३७

जब से यह आत्मा जन्म धारण करता है तब से सुख की खोज मे भटकता रहता है, सुख के पीछे दौड़ता रहता है। किन्तु सुख तो जीवन मे किसी वृक्ष की शाखा पर कुछ समय के लिए खिलने वाले पुष्प के समान ही है। कुछ काल के लिए वह फूल खिलता है और फिर मुरझा जाता है। उसके स्थानपर अन्य कोई फूल खिलता है। यही क्रम सदैव चलता रहता है।

इसी प्रकार जीवन मे सुख व दुःख की स्थिति है। सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख। अथवा अन्य शब्दो मे यह कहा जाय कि सुख क्षण भगुर है, इस जीवन मे वह सदा टिक नही सकता, अमर नही रह सकता। इतना होते हुए भी आत्मा दुःख से अपना बचाव करके सुख का मधु प्राप्त करने के लिए मधुमक्खी की तरह निरन्तर लगा ही रहता है।

उसका परिणाम क्या होता है ? क्या सुख की प्राप्ति हो जाती है ? ऐसे सुख की, जो अमर हो ! ऐसा सुख, जो कभी समाप्त न हो, शेष न हो ? नही !

इस नश्वर जीवन मे वह सुख प्राप्त नही हो सकता। जमीन-आसमान एक कर दिया जाय, किन्तु सनातन सुख इस जीवन मे तो प्राप्त होने का नही है। उस सुख की आशा मे आत्मा दुःख के जाल मे पड जाता है। झूठ, चोरी आदि अनेक पाप कर्म उस सुख की दुराशा में ही किये जाते है।

[२९]किये हुए कर्म का अथवा पाप का दुःख विपाक आत्मा को

---

२९ मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरते
एव अदत्ताणि समाययतो, सद्दे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥
—उत्तरा. अ. ३२ गा. ४४

ही भोगना होगा। कोई अन्य आकर उसमे भागीदार नही होगा। भूठ बोलने वाला आत्मा ही है, तो आज या कल, आगे अथवा पीछे, उसका फल भी उसे ही भोगना है यह सुनिश्चित है। दुष्ट कर्म करने वाली आत्मा अवश्य दुखी होती है। उसी प्रकार चोरी आदि कुकर्मो मे प्रवृत्त और शब्द आदि विषयो मे अतृप्त, आत्मा भी दुख को प्राप्त होती है। उसका कोई सहायक, नही होता उसके किये कर्म का फल बटाने वाला कोई नही होता।

हिंसा, भूठ, चोरी, परिग्रह, मैथुन—इनमे प्रवृत्ति करना विषयासक्त जीवो का कार्य क्षेत्र है। विभाव दशा म गतिशील आत्मा सदा दुख उठाता है। यही आत्मा इस विराट विश्व मे घुमक्कड की तरह परिभ्रमण करता रहता है। कभी पेट के लिए कभी परिवार के लिए भटका और कभी भोग विलासो की तृप्ति की आकांक्षा मे यह भटका।

भोगो की आकाक्षा आत्मा को बहुत भटकाती है। इनके वश मे पडकर वह मारा मारा फिरता है यदि इनसे बच सके तो कल्याण का मार्ग प्रगट हो।

कहा गया है —

भोगी भमइ ससारे अभोगी नोव लिप्पइ।"

—भोगी ही ससार मे भ्रमण करता है, अभोगी कभी इनम लिप्त नही होता।

यह ससार वासनामय है। सर्वत्र वासना का जाल फैला हुआ है। मानव-दानव पशु पक्षी सब प्राणियो मे एक उन्माद पाया जाता है। उस उन्माद से मोह की उत्पत्ति होती है और

कर्मों का सग्रह होता है। इन कर्मपुद्गलो का सग्रह कर्त्ता ही वास्तविक कर्त्ता है।

[३०]आ मा ही कर्म अथवा सुख-दु ख का कर्त्ता है। इसे स्पष्ट करते हुए प्रभु महावीर ने गौतम के प्रश्न का उत्तर दिया है कि जीव-कृत कर्म है, अजीव-कृत कर्म नही। माता की कोख मे आया हुआ जीव ही आहार लेता है, फिर शरीर वनाता है। कलेवररूप कर्म पुद्गलो का सचय ही यह देह मन्दिर है।

जिस प्रकार चीटियाँ अपनी खाद्य वस्तु स्वय ही सगृहीत करती है, चिडियाँ अपनी सुरक्षा हेतु घोसला वनाती है तथा मकडो स्वय ही जाल वुनती है—ठीक उसी प्रकार जहाँ आत्मा उत्पन्न होता है, वहाँ के पुद्गल ;स्वय ही पकड लेती है। वह अपने पुण्य के वल से सुख तथा पाप के वल से दु ख को प्राप्ति करती है।

विचार करने की वात है कि इस विराट् विश्व मे इस आत्मा ने अनेक जन्म धारण किये, कभी नर-देह प्राप्त की,

---

३० प्रश्न—जीवाण भन्ते कि चेयकडा कम्मा कज्जति, अचेयकडा कम्मा कज्जति ?

उत्तर—गोयमा ! जीवाण चेयकडा कम्मा कज्जति, नो अचेयकडा कम्मा कज्जंति।

प्रश्न—से केणट्ठेण भते ! एव वुच्चइ जाव कज्जति ?

उत्तर—गोयमा ! जीवाण आहारोवचिया पोग्गला वोंदिचिया पोग्गला कलेवरचिया पोग्गला।

—भगवती सूत्र

कभी कीट-पतग बना, कभी वर्ण सकर, क्षत्रिय या चाण्डाल बना फिर भी उसको स्थायी सुख नही मिल सका।

वह स्थायी सुख कैसे प्राप्त हो ? आत्मा की किस प्रवृत्ति से स्थायी सुख की प्राप्ति हो सकती है ? ससार के समस्त सुख तो अस्थायी है। उन्हे प्राप्त करने के प्रयत्न मे तो कार्य कभी पूरा ही नही हुआ, आज तक वह अधूरा ही रहा। तब कार्य कैसे पूरा हो ?

यही विचार हमे करना है।

[३१]सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाश से, अज्ञान तथा मोह के सम्पूर्ण त्याग से, राग और द्वेष के सम्पूर्ण क्षय द्वारा ही एकान्त तथा शाश्वतसुख रूप मोक्ष को यह जीव (आत्मा) प्राप्त कर सकता है।

[३२]अनन्त ज्ञानी प्रभु ने आत्मा को कर्त्ता कहा है। अत हम उनके वचन को स्वीकार करके निर्भय होकर रत्नत्रय की साधना करनी चाहिये। ससार भर मे मौलिक साधना यही है।

कर्मों का सग्रह तो हमे कभी मुक्त नही होने देगा। उसका शुभाशुभ परिणाम हमे भोगना होगा और इस प्रकार आत्मा भटकता ही रहेगा। मदिरापान किया जायगा तो उससे उत्पन्न होने वाले पागलपन मे भी पडना होगा। अत इन पर विजय

---

३१ नाणस्स सव्वस्स पगासणाए अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य सखएण एगन्तसोक्ख समुवेई मोक्ख॥
उत्तरा० अ ३२ गा २

३२ णाण च दसण चेव चरित्त च तवो तहा।
एस मग्गुत्ति पन्नत्तो, जिणेहि वरदसिहि॥
उत्तरा० अ २८

प्राप्त करने के जो साधन अनादि काल से सुरक्षित है, उनका आश्रय लेकर हमे उनसे वचना चाहिये। हम उनके अधिकारी है। हम स्वय ही कर्त्ता एव भोक्ता है।

अनन्त ज्ञानी करुणामय पुरुपोत्तम भगवान द्वारा यह शुद्ध ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप ही आराधना का उपाय कहा गया है। इससे भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि यदि हम इतना समझले कि सुख अथवा दुख के कर्त्ता हम स्वय ही है, कोई अन्य हमे सुख अथवा दुख नही दे सकता, तव फिर स्वभावदशा में स्थिर होकर, सयमपूर्वक तप द्वारा हमे अपनी शुद्धि करनी चाहिए। यही कल्याण का राजमार्ग है।

●

तप का जीवन मे अत्यन्त महत्व है जिस प्रकार प्राणी को जल की आवश्यकता है, जल के विना उसका जीवन नही चल सकता उसी प्रकार आत्मा के लिए तप अनिवाय है। तप से शरीर, मन एव आत्मा सशक्त तथा शुद्ध बनती है। प्रत्येक धम मे, प्रत्येक महापुरुष द्वारा तप के विशिष्ट महत्व को स्वीकार किया गया है।

किन्तु तप की विधि को भली प्रकार समझना, समय देखकर तप करना और शारीरिक शक्ति की उपेक्षा करके तप न करना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा न करने पर लाभ के स्थान पर हानि होने की ही सभावना रहती है। इसके विपरीत यदि शास्त्रीयविधि से, गुरु की आज्ञानुसार तप किया जाय तो उससे कम रिपुओ का अवश्य ही विनाश होगा।

शरीर आराम चाहता है। तप से उसे कष्ट होता है। किन्तु विवेकी पुरुष जानते हैं कि तप द्वारा शरीर को भी पुष्ट तथा स्वस्थ रखा जा सकता है। विधिपूवक किया गया तप अन्तत शरीर को कष्ट के स्थान पर सुख ही पहुचायेगा।

[1]भगवान महावीर ने तप की उपेक्षा करने वाले लोगो को उपदेश दिया है कि जो गरिष्ट भोजन या बार-बार आहार करता है, तप की उपेक्षा करता है वह पापी साधु है।

---

१ दुद्ध–दही–विगईओ आहारेइ अभिक्खण।
अरए य तवोकम्म पावसमणे त्ति वुच्चई॥

शारीरिक मोह-ममता व भोज्य पदार्थ की तृष्णा छोडे बिना तप नही किया जा सकता। वह साधक अपराधी है जो सदैव खाने-पीने के ही स्वप्न देखा करता है।

[२]तप करना मोक्ष-मार्ग का परिमार्जन करना है। अन्य शब्दो मे कहा जा सकता है कि तप ही मोक्ष-मार्ग है। भगवान महावीर ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र को मोक्ष-मार्ग कहा है।

अनशन आदि छह बाह्य तप है तथा ध्यान आदि आभ्यन्तर तप है। तीर्थंकर अपने पूर्वभव मे घोरतप करते है वर्तमान भव मे भी तप के बल से ही केवलज्ञान प्राप्त करते है। भगवान महावीर ने सयम लेने के पश्चात् निम्नाकित तप किया—

छ मासी २, सगम उपसर्ग मे ५ दिन कम छमासी एक, चौमासी ९, तीन मासी २, ढाई मासी २, दो मासी ६, डेढ मासी २, एक मासी १२, अर्धमासी ७२, अट्ठम १२ छट्ठ २२९, प्रतिमा २ दिन, महाभद्र प्रतिमा ४ दिन, सर्वतोभद्र प्रतिमा १० दिन। इस प्रकार भगवान महावीर ने ग्यारह वर्ष छह माह २५ दिन का तप किया, तब वे केवली बने।

भगवान महावीर के चौदह हजार शिष्य थे। उनमे धन्ना अनगार तपोधनी थे। वैसे तो सभी सन्त तप करते ही थे, किन्तु धन्नाजी का तप आश्चर्यजनक था। सयम लिया तब से बेले-बेले का तप तथा पारणा मे आयबिल करते थे।

---

२ नाण च दसण चेव चरित्त च तवो तहा।
एस मग्गुत्ति पन्नत्तो, जिणेहि वरदसिहि॥

उत्तराध्ययन अ १७। १८

आयविल के लिए जो आहार ग्रहण करते वह भी अति नीरस और फेंकने योग्य—ऐसा कि जिसे कोई अति गरीब जन भी न लेना चाहे। ऐसा ही शुष्क, शीत आहार आयविल मे लेते। सरस आहार की याद तक नही करते थे। वे तीव्र वैराग्यवन्त थे।

वे घोरतपस्वी शरीर से दुबले हो गये, किन्तु उनका आत्मबल बढता ही गया। आत्मबल के सहारे ही वे उठना बैठना चलना आदि दैनंदिन क्रियाएं करते थे। उन्हे किसी प्रकार की कोई व्याधि नही लगी, क्योंकि उनका तप शास्त्रोक्त विधि से किया गया था।

जमाली मुनि ने भी तप किया था। वह प्रभु महावीर की आज्ञा पालन नही करता था। मनमानी तपश्चर्या करने लगा। उसके हृदय मे गुरु भक्ति नही थी, विनय नही था। ऐसा होने पर कितना भी उग्र तप हो, सफल नही हो सकता।

[१]मुनि जमाली धारणा करते तब नीरस विरस अन्त प्रान्त लूखा, तुच्छ, कालातिक्रान्त प्रमाणातिक्रान्त एवं ठण्डा भोजन काम मे लेते। इससे उनकी देह व्याधि ग्रस्त हो गई।

शरीर के लिए अन्न पानी आवश्यक है। किन्तु जो कुछ खाया पिया जाय वह शरीर को पोषित करे, वीर्य शक्ति रूप मे परिणत हो, इसके लिये आवश्यक है कि तप का आराधन भी उचित प्रकार से किया जाय।

---

१ —भगवती सूत्र श ९ उ ३३
सू० ७८

तप करने वाला तप का फल चाहता है। किन्तु यह चाह करना भूल है। इच्छा के साथ तप करना तप की महत्ता को विनष्ट करना है। साधना का फल तो स्वतन्त्र है, उसे स्वतन्त्र ही रहने देना चाहिए।

कहा गया है :—

> पुण्यस्य फलमिच्छन्ति, पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
> फलं नेच्छंति पापस्य पापं कुर्वन्ति मानवाः॥

—कैसी विडम्बना है! मनुष्य पुण्य का फल तो चाहता है, किन्तु पुण्य को नही चाहता और पाप करता है, किन्तु उस पाप का फल नही चाहता।

तप का फल स्वय ही, विधि विधान से प्राप्त होता है।

जैनागमो मे तप का फल कर्मों की निर्जरा है। निर्जरा का अर्थ आत्मा का मैल धुल जाना है। [४]भगवान महावीर से गौतम ने पूछा कि तप से, सयम से किस फल की प्राप्ति होती है ? तव भगवान ने वताया कि उससे पूर्वकृत-कर्म क्षय होते है। पद्म पुराण मे कहा गया है कि—

> "यादृशं क्रियते कर्म तादृशं भुज्यते फलं।"

---

४ प्रश्न—संजमे रणं भन्ते किं फले ?
तवे णं भन्ते किं फले ?

उत्तर—संजमे रणं अज्जो अरणण्हयफले तवे वोंदाण फले।
पुव्वतवेण अज्जो देवा देवलोएसु उववज्जंति।

—भगवती सूत्र, श. २, उ. ६

—जैसा कर्म करोगे वैसा ही फल भोगोगे। अत फल की चिंता न करके शुद्ध तप करना ही श्रेष्ठ है। औपपातिक सूत्र मे कहा गया है—

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवति
दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवति।

अत पाठको को यह विचार भली प्रकार कर लेना चाहिए कि फल की इच्छा किये विना जो शुद्ध तप किया जायगा वह स्वय ही हमे सुफल प्रदान करेगा।

स्वास्थ्य और तप

प्रत्येक प्राणी यह चाहता है कि उसका जीवन सुखमय बने, वह दीर्घायु हो, स्वस्थ रहे। यह सत्य है कि कुबेर के खजाने से भी अधिक मूल्यवान वस्तु यदि ससार मे कोई है तो वह सुदर स्वास्थ्य ही है।

स्वस्थ शरीर मे ही स्वस्थ मन रह सकता है तथा इसके साथ ही यह भी उतना ही सत्य है कि स्वस्थ मन हो तो शरीर भी स्वस्थ रहता है। अत मन की प्रकृति को सदव निर्दोष रखना चाहिये। ऐसा करने के लिए तप का आश्रय लेना अत्यन्त अनिवाय है।

भगवान महावीर ने ब्रह्मचय को उत्तम तप माना है। सदाचार के विना जीवन का निर्माण हो ही नही सकता। जिस प्रकार दीपक के विना मदिर म अधेरा रहता है, उसी प्रकार सदाचार तथा तप के अभाव म जीवन के मन्दिर मे अँधेरा ही रहता है। तप का आरम्भ और आधार शील है। वही जीवन का निर्माण करने वाला है।

किन्तु जीभ के स्वाद मे पडकर आज मनुष्य अपने स्वास्थ्य तथा तप की शक्ति को समाप्त कर रहा है। यह वडी चिन्ता का विषय है।

चाय का रिवाज आज घर-घर मे चल पडा है। यह वस्तु लाभ से अधिक हानि करती है। किन्तु इसका प्रचार वढता ही जा रहा है और उससे जन-सामान्य के स्वास्थ्य को वड़ी हानि पहुच रही है।

किसी ने कहा है—

कफ काटन, वादी हरन, धातु क्षीण, वल हीन,
लोहू का पानी करे, दो गुन, अवगुण तीन।

इस चाय के आदी वन जाने वाले लोगो को हम यही कहते सुनेगे—

दिल लगाया था दिल्लगी के लिए,
लग गया रोग ता-जिन्दगी के लिये।

—यह ऐसा रोग है जो एक वार लग जाने के वाद मनुष्य का पल्ला वडी कठिनाई से ही छोड़ता है।

यही स्थिति तम्वाकू पीने वालो की भी है। आज भारत मे अधिकांश लोगो का स्वास्थ्य इन्ही मादक पदार्थों के सेवन के कारण विगड़ रहा है। जो लोग इन व्यसनो मे फस जाते है, वे शरीर से तथा धन से हानि उठाते ही है, उनकी तप-शक्ति भी क्षीण हो जाती है। अत जिन लोगो को ये व्यसन नही लगे, वे तो भाग्यवान् है ही, किन्तु जिन्हे ये व्यसन लग चुके है, वे यदि इनका त्याग करे तो वे भी भाग्यशाली होगे। लगे हुए व्यसनो का त्याग करना जैन परिभाषा के अनुसार सयम है। इससे स्वास्थ्य सुधार तो होगा ही।

जि ह भोग विलास उपल ध है उ हे चाहिए कि वे उनका उपयोग मर्यादा से अधिक न करें। उत्तम तो यह है कि भोगों का सर्वथा ही त्याग किया जाय। सच्चा त्याग इसी को कहा जायगा।[५]

आज के युग को डालडा युग कहा जाता है। सभ्यता को भी डालडा सभ्यता कहा जाने लगा है। क्योंकि डालडा के प्रचार ने हमारी शक्ति को अत्यन्त क्षीण कर दिया है। शुद्ध घृत जो कि स्वास्थ्य तथा जीवनी शक्तियों को बढ़ाता है आज कठिनाई से कहीं देखने को मिलता है। सर्वत्र चोर बाजारी तथा मिलावट का ही बोलबाला है। समाज की दृष्टि से यह बहुत ही चिन्ता का विषय है।

स्वास्थ्य का ध्यान रखकर तप किया जाना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो अनेक प्रकार की व्याधियाँ शरीर को ग्रस कर उसे क्षीण बना देंगी। मन के सकल्प-विकल्प भावना रूप कीचड़ में पड़ने पर तप के फल में सटान पदा होगी। ऐसी स्थिति में वह तप व्यर्थ है। उपवास आदि तप के पूर्व या पश्चात यदि मिठाई आदि गरिष्ठ वस्तु अधिक मात्रा में खाली जाय तो वह प्राण हानि तक कर सकती है।

विधि तथा गुरु गम से किया गया तप स्वास्थ्य को अवश्य ही लाभ पहुचाता है। ऐसा मेरा स्वय का अनुभव है। गुरु की कृपा से मैंने ग्यारह, सात, पाँच, चार तथा तीन उपवास किए।

---

५ जे य कन्ते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठि कुव्वई
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ।

—दशवैकालिक सूत्र अ० २

उससे मुझे प्रत्येक प्रकार का लाभ हुआ। एक वार धारा नगर मे चौमासा था। वहाँ एक उपवास के पारणे मे अपथ्य आहार लेने से अजीर्ण हो गया। वह इतना भयकर रहा कि एक वर्ष पर्यन्त सग्रहणी की व्याधि वनी रही। किन्तु मैंने वैद्य-डाक्टर का पल्ला नही पकडा। मैंने पुन. विधि-पूर्वक तप तथा शास्त्रीय नियमानुसार आसन आदि करके ही उस व्याधि से मुक्ति प्राप्त की।

मेरा पूर्ण विश्वास है कि औषधियो की अपेक्षा तप और उसके आदि—अन्त मे उचित पथ्य लेने से वहुत लाभ होता है।

मन की इच्छा तथा जीभ के स्वाद के वश मे होकर कोई भी भोजन लेना अपराध है। हमे हमेशा अपनी पाचन-शक्ति का ध्यान रखकर सादा और स्वास्थ्य वर्धक भोजन ही ग्रहण करना चाहिए।

प्रत्येक मनुष्य को प्रत्येक वस्तु लाभकारी नही होती। किसी को वैगन हानि करता है, किसी को लाभ। यही वात तप के विषय मे भी समझना चाहिए। तप तो सदा अच्छा है, किन्तु उसका आचरण विधि पूर्वक, क्षमतानुसार करना चाहिए। अत तप तथा स्वास्थ्य का घनिष्ठ सम्वन्ध है, उसे समझ कर मानव को तप करना चाहिए।

तप की सामाजिक-उपयोगिता

समाज मे रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति का उसके समाज से गहरा सम्वन्ध है। वह समाज का ही एक अंग है। समाज मे मुनियों का स्थान वहुत ऊँचा है, वह इसलिये कि वे सयम के साथ तप का आचरण करते है। जो भी व्यक्ति इस प्रकार

तप का आचरण करेगा, वह समाज में उच्च स्थान अवश्य प्राप्त करेगा ही। साधु का चाहिए कि वह अपने जीवन को तपोमय रखे। तभी वह समाज सुधार कर सकेगा। यदि वह हर समय मधुर व्यजना के ही स्वप्न देखेगा तो उसे समाज पर भारभूत ही कहा जायेगा।

यतिवर्ग मे एक समय ऐसा आया जबकि वह समाज पर भार रूप बन गया। उसका कारण तप की उपेक्षा ही है। क्रिया और तप के बिना भिक्षा लेना गृहस्थ पर अनावश्यक बोझ डालना है। इसे एक सामाजिक अपराध भी कहा जायगा। उस समय का श्रावक तप विहीन यतिया से कितना ऊब गया था यह इस कविता से प्रगट होता है—

धनी धूजियो घमीयानो घजो धूज्यो घर को पातो,
यती जो बो पातरा फाढया, एक कालो एक रातो।
झालर बाजी, डको बाज्यो गोटो बाज्यो घम्म
गृहस्थी मन म जानियो पब आयो यति जम।

—इस कथन मे अतिशयोक्ति हो सकती है। हम किसी की आलोचना भी नही करना चाहते, किन्तु हमारा आशय इतना ही है कि तप के अभाव मे केवल लाभ ही जब रह जाय तब ऐसे कथित सन्तो के प्रति गृहस्थो का दुर्भाव हो जाना असभव नही है।

साधु जीवन मे भिक्षा अनिवार्य है। किन्तु वह विधि से होनी चाहिए। विधि पूर्वक ग्रहण की गई भिक्षा उपवास का

लाभ देती है।[६] यदि भिक्षा एक ही घर से ली जाने लगे तो वह अपराध कहा जायगा। किसी भी स्थिति मे एक ही घर से भिक्षा नही लेनी चाहिए। साधु की भिक्षा यदि साधु के ढंग की हो तो वह तप है और समाज के लिए भी लाभप्रद है।

साधु करे एसो आहार, नहीं लोगां नं लागे भार।
लावे जो दे चुकाय, वासी रहे न कुत्ता खाय॥

सेवा करना, सहयोग देना, अल्पाहारी वनकर रहना, भूखे को देकर खाना, परिवार-पालन मे मन को निर्दोष रखना—ये सव व्यवहार तप के अग है। तप वास्तव मे समाज के लिए खाद और पानी का काम करता है। उससे समाज की भूमि उर्वरा वनती है, समाज का उत्थान होता है। तप के आधार से समाज फलता-फूलता तथा स्वस्थ रहता है।

स्थानकवासी समाज मे वडे-वडे घोर तपस्वी हुए है। आज भी प्रति वर्ष वडे-वडे तप होते है। तपस्वी अपना कल्याण तो करते ही है, किन्तु उससे समाज को भी कितना हित होता है, यह भी देखना चाहिए। तपस्वियो का समाज मे होना, यह समाज के लिए सौभाग्य की वात है। किन्तु तप के प्रभाव से समाज का सुधार हो, तपस्वियो के जीवन से समाज को ऐसी प्रेरणा मिले कि उसमे सगठन वढे, गरीव-अमीर के वीच

---

६ (क) उपवासात्परं भैक्ष्यम्—वशिष्ट स्मृति
(ख) भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवास समा स्मृता—मनुस्मृति
(ग) एकान्न नैव भोक्तव्यं वृहस्पति समादपि—अत्रिस्मृति
भिक्षया भोगमिच्छन्ति ते दैवेन विडम्बिता.।

का भेद मिटे, अनाथो विधवाओ की रक्षा हो, रूढिवाद का नाश हो—तभी तपस्वियो के जीवन की समाज म साथकता है।

अत इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि समाज मे सगठन और तपश्चर्या की कमी न हो। ऐसा होने पर यह मानकर चलना चाहिए कि समाज का पुण्य प्रताप मन्द पडेगा। तप की परम्परा तो समाज मे निरतर चलती ही रहनी चाहिए। समाज के निर्माण के जितने भी उपाय हैं, उनमे तप प्रधान है।

व्यक्ति से समाज बनता है और समाज के ही आधार पर व्यक्ति पनपता है। अत यदि समाज को सबल बनाना हो, सगठित रखना हो और युग के साथ चलना हो तो प्रत्येक व्यक्ति को यथाशक्ति तप का आचरण सदैव करते रहना चाहिए। उपवास आदि व्रत करना तो तप है ही, और उपवास तप को दृष्टि मे रखकर ऊपर विचार प्रकट किये गये हैं, किन्तु समाज-सेवा आदि काय भी किसी तप से कम नही हैं। इनका भी आचरण अवश्य करना चाहिए।

तप और वतमान खाद्य समस्या

मनुष्य का अथवा किसी भी प्राणी का शरीर खाद्य के बिना टिक नही सकता। खाद्य शरीर का आधार है। यह समस्या कम या अधिक प्रत्येक काल मे रही है किन्तु आज यह जिस भयकरता से हमारे सामने मुँह बाए खडी है इतनी भयकर पहले कभी नही थी। अन्य देशो की अपेक्षा भारतवष म यह समस्या और भी विकट है। आए दिन समाचार प्राप्त होते रहते हैं कि देश के अमुक भाग म अन्न के कारण इतने व्यक्ति अथवा पशु मृत्यु को प्राप्त हुए।

किसी भी सभ्य कहलाने वाले देश के लिए यह स्थिति अत्यन्त लज्जा-जनक है कि उसके नागरिक केवल भूख अथवा भूख से उत्पन्न अनेक व्याधियो से मर जाँय।

कष्ट तो जीवन मे अनेक प्रकार के होते ही है, किन्तु इन सव मे भूख का कष्ट अत्यन्त भीषण है। इसे सहन करना मनुष्य की शक्ति के परे है।

कहा गया है—

> **वासुदेव ! जरा कष्ट, कष्ट निर्धनजीवनम्।**
> **पुत्रशोको महाकष्ट, कष्टात्कष्टतर क्षुधा ॥**

—वृद्धावस्था कष्ट है, निर्धन जीवन कष्ट है, पुत्रशोक कष्ट है, किन्तु क्षुधा का कष्ट तो अत्यन्त विकट है।

[७]संसार मे जन्म-मरण प्रथम कष्ट है। दूसरे नम्बर मे क्षुधा है। "खुहासमा नत्थि सरीरवेयणा" क्षुधा के समान दूसरी कोई वेदना नही। जनश्रुति मे भी प्रचलित है कि क्षुधादेवी महा-काली माता है।

जल-अन्न आदि जीवन के लिए अनिवार्य और अमूल्य है। उसके विना शरीर की उत्पत्ति ही नही हो सकती। इसीलिए इन्हे रत्न कहा गया है—

> **"पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्न सुभाषितं।"**

---

७ रागो य दोसो विय कम्मवीय, कम्म च मोहप्पभव वयंति।
कम्मं च जाइमरणस्स मूलं, दुक्ख च जाई मरण वयति ॥

—उत्तराध्ययन अ० ३२ गा० ७

अन्न जल के अभाव मे किसी व्यक्ति की कोई भी शक्ति काम नही कर सकती। सुदर से सुदर सुभाषित हो, किन्तु इनके अभाव मे इसे सुन सकना सभव नही—

बुभुक्षित व्याकरण न भुज्यते
पिपासित काव्यरसो न पीयते।"

—भूखा व्यक्ति व्याकरण को नही खा सकता। और प्यासा आदमी काव्य रस को नही पी सकता। अर्थात इनसे उसकी तृप्ति नही हो सकती, चाह वे कितने भी उत्कृष्ट क्यो न हो। उसे तो अपनी भूख-प्यास शात करने के लिए रोटी और पानी ही चाहिए।

इन रत्नो मे से भी पानी विशेष महत्व का है, क्योकि यही सब रसो को उत्पन्न करने वाला है। पानी के अभाव मे सवत्र त्राहि त्राहि मच जाती है। खाद्य समस्या के उत्पन्न होने मे एक मूल कारण जल का अभाव भी है। यदि अनावृष्टि हो तो अन्न का उत्पादन नही हो सकता। इसी प्रकार यदि कही अतिवृष्टि होती है तो वहाँ भी फसल के विनष्ट हो जाने से खाद्यसमस्या उत्पन्न हो जाती है।

अन्न के उत्पादन के लिए देश मे अनेक प्रकार के उपाय किये जा रहे हैं। किन्तु इतने उपायो के बाद भी जब यह समस्या हल नही हो रही है तो उसका कोई न कोई कारण भी होना ही चाहिए।

हमारी सम्मति मे वह कारण है—तप का अभाव। आज देश म तप का अभाव है तो प्रकृति तुष्ट कैसे हो? मेघराज क्यो रीझें?

सिनेमा के प्रचार ने नवयुवको के चरित्र को जिस प्रकार से भ्रष्ट किया है उसे कौन नही जानता? उनके जीवन मे सयम, त्याग, तप की आज कितनी मात्रा अवशेष है?

चाय-वीड़ी-सिगरेट ने देश के नागरिको को व्यसनी बना रखा है। व्यसन मे डूबा हुआ व्यक्ति क्या तो अपना हित करेगा और क्या समाज का हित करेगा? उसका जीवन तो तप का विरोधी है। इन दुर्व्यसनो को समाप्त करके सयम धारण करना भी तप है। इस तप के प्रभाव से उनका शरीर सुन्दर वनेगा, देश समृद्ध वनेगा।

ऐसा नही करने का ही परिणाम है कि देश मे भूखमरी और वेकारी वढ रही है। जव भूखमरी और वेकारी अपना अधिकार समाज मे करले तो फिर जप-तप तो खूंटी पर टगा ही समझना चाहिए। भूखा आदमी तो एक के वाद एक पाप करता ही चला जायगा—

"बुभुक्षितः किं न करोति पापं ?"

स्वर्गीय प्रधानमत्री श्री लालवहादुर शास्त्री ने सोमवार को व्रत करने के लिए देश को कहा। उनके इस कथन के पीछे गहरा मर्म है। यदि एक दिन या एक वक्त देश के सव लोग भोजन न करे तो लाखो आदमियो को वह वचा हुआ अन्न प्राप्त हो सकता है। किन्तु इसके साथ उनकी भावना यह थी कि देश के लोग इस वहाने धीरे-धीरे तप के माहात्म्य को समझे और स्वीकार करे। अत हमे तप के महत्व को समझना चाहिए और इस समस्या का मूल से ही निराकरण करना चाहिए। केवल ऊपर के कतिपय उपचारो से किसी भी समस्या का पूर्ण हल कभी नही निकल सकता।

देश की खाद्य समस्या के अनेक कारण हैं। जनसंख्या वढना, दुष्काल पडना तो कारण है ही, किन्तु ये ऊपरी कारण हैं। वास्तविक और भीतरी कारण है लोगो मे चोर वाजारी, भ्रष्टाचार एव लोभ लालच का वढना। क्या ये वृत्तिया पाप-वृत्ति नही है ? इन पाप वृत्तियो का त्याग करना एक प्रकार का तप है और यह सच्चा तप ही हमारे समाज तथा देश के जीवन को सुखी एव समृद्ध कर सकेगा।

गहरी दृष्टि से विचार करने पर हम इसी निर्णय पर पहुँचते है कि यदि देश के लोगो मे सयम, सदाचार और सात्विकता आए तो देश का कल्याण हो सकता है और सारी समस्याए सुलझ सकती हैं।

और अव पाठक स्वय ही विचार कर सकते हैं कि चरित्र का विकास करने मे तप का कितना महत्व है ?

तप और क्षमा

आत्मा को पवित्र वनाने के लिए जिस प्रकार तप की आवश्यकता है, उसी प्रकार क्षमा भी अनिवार्य है। तप के अभाव मे क्षमा या क्षमा के अभाव मे तप का कोई मूल्य नही रहता।

कषाय भयकर शत्रु हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ—ये चारो कषाय क्षमा पर आक्रमण करते है। यदि कषायो का तीव्र वेग आए तो करोडो भवो का सग्रहीत तप क्षय हो जाता है। जिस प्रकार वर्ष भर की शक्ति एक वार ज्वर आने से समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार कषायो के वेग का भी दुष्प्रभाव होता है। कहा गया है—

हरत्येकदिनेनव तैज षाण्मासिक ज्वर ।
क्रोध पुन क्षणेनापि पूर्वकोट्यर्जित तप ॥

एक वार एक गुरु-चेले भिक्षा हेतु गए। आगे-आगे गुरु तथा पीछे-पीछे चेला चल रहा था। मार्ग में मृत मेढक का कलेवर पड़ा था। गुरु का पॉव असावधानी से उस पर पड़ गया।

यह देखकर शिष्य वोला—"गुरु जी! मेढक मर गय । प्रायश्चित्त लीजिए।"

तव गुरु ने उत्तर दिया—"वत्स! प्रायश्चित्त की आवश्य-कता नही, क्योकि यह तो पूर्व-मृत है। मेरे पाँव से नही मरा।"

शिष्य माना नही। वार-वार वह प्रायश्चित्त के लिए आग्रह करता ही रहा। तव गुरु को क्रोध आ गया। वे दण्डा लेकर दौडे। कुछ अन्धकार हो जाने से वे एक खम्भे से टकरा गए, सिर टूट गया और परलोक-वासी हुए।

उसी गुरु का जीव मृत्यु के पश्चात् पुन. जन्म लेकर चण्ड-कौशिक सर्प वना। सव जानते है कि वह कितना भयकर सर्प था। यह सव क्रोध करने का ही परिणाम है। अत क्रोध से वचना चाहिए। कहा है—

मासोपवासनिरतोऽस्तु तनोतु सत्यम्।
ध्यान करोतु विदधातु बहिर्निवासम्
ब्रह्मव्रत धरतु भैक्ष्यरतोऽस्तु नित्यम्
रोषं करोति यदि सर्वमनर्थकं तत्।

क्षमा के अभाव मे जीवन भर का किया हुआ पुण्य विफल हो जाता है।

कोकिला को सव चाहते है, क्योकि उसका स्वर मीठा है, वाणी मधुर है। उसके काले रग को कोई नही देखता। स्त्री

यदि सुंदर भी हो, पर अपने पति की आज्ञा में न रहती हो तो उसके अन्य सब गुण नहीं के बराबर ही माने जाते हैं। इसी प्रकार किसी का शरीर अष्टावक्र होने पर भी यदि वह विद्वान् है तो उसका आदर होता है। तथा तपस्वी के तप की शोभा भी क्षमा गुण होने पर ही होती है—

कोकिलाना स्वरो रूप, नारीरूप पतिव्रतम।
विद्यारूप कुरूपाणां, क्षमारूप तपस्विनाम॥

अत क्षमा के अभाव में तप का मूल्य नहीं।

एक बाबा जी निजन वन में तपश्चर्या करते थे। किसी राहगीर ने उनसे उनका नाम पूछा। बाबा ने उत्तर दिया—"मेरा नाम शीतलप्रसाद है।" यात्री ने कहा—"शीतल।" और फिर चला गया। कुछ दूर जाकर वह पुन लौट आया। उसने फिर से बाबा जी का नाम पूछा। अब बाबा जी का पारा चढा। वे चीमटा हाथ में लेकर उस राहगीर को मारने के लिए उद्यत हुए, तब यात्री ने कहा—

महाक्रोध को पुतलो नाम धर्यो है शीतल।
ऊपर सोनो सोलमो भीतर कोरो पीतल।

ऐसा कहकर यात्री भाग गया। उसे तो बाबाजी के क्षमा गुण की पहिचान करनी थी।

अस्तु क्षमा से ही तप की महिमा है।

हरिकेशी जाति के हरिजन थे। किंतु तपोबली होने के कारण देव उनकी सेवा में रहता था। यह सब तप और क्षमा का ही प्रभाव है। इस कलिकाल में तप असभव नहीं है। आज भी क्षमा—दया की परम्परा चल रही है। हाँ, उसमें सुधार अवश्य अपेक्षित है।

सभी प्रकार के सुपात्र समाज मे से ही निकल कर आते है। यदि समाज समर्थ है, सगठनयुक्त है, शिक्षित है तो उसमे योग्य पात्र भी अवश्य ही निकल आएँगे। व्यक्ति और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। यदि समाज मे आडम्बर है तो तपस्वी को भी नाम की भूख पैदा हो जाएगी। और तब साधनो के अभाव मे कपाय उत्पन्न होगा और अन्त मे क्षमा गुण को हानि पहुचेगी।

कषाय की भीषण अग्नि को शान्त करने मे क्षमा ही सच्चा तप है। समर्थ व्यक्ति की क्षमा ही शोभा देती है। यदि तपस्वी मे तप की शक्ति है तो उसकी रक्षा के लिए क्षमा का होना अनिवार्य है।

हम सब को यही कामना और प्रयत्न करना चाहिए कि गजसुकुमाल मुनि तथा अर्जुन माली मुनि के समान क्षमा भावना का हमारे हृदय मे उदय हो। यदि ऐसा हो सका तो हमारा जीवन सफल होगा।

३ मानव-जीवन का मूल्य और मौलिकता

मानव जीवन प्राप्त करना प्राणी के लिए दुलभ और कठिन है।[1] दुष्कर्म का विपाक अत्यन्त गाढ होता है उसी कारण बडे भाग्य से ही यह जीवन प्राप्त होता है। प्रभु महावीर ने अपने प्रिय शिष्य गौतम को कहा—'समय मात्र का प्रमाद मत कर। मद, विषय कषाय आदि प्रमादो का चक्र अत्यन्त भयकर है, इससे वचो।"

महावीर और गणधर गौतम का मानव जीवन की श्रेष्ठता वताने वाला एक सवाद है। प्रभु से गौतम ने पूछा-'हे भगवन ! गुरु एव साधर्मी जनो की सेवा करने से किस गुण की प्राप्ति होती है ?"

भगवान ने उत्तर दिया—"इससे विनय की प्राप्ति होती है। विनय से अनाशातना शील, सत्कार करता हुआ जीव नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव सम्वधी दुगति को रोक देता है। श्लाघा, प्रशसा, भक्ति वहुमान पाता हुआ वह मानव और देव सम्बन्धी सुगति वाधता है। सिद्धि गति की विशुद्धि करता है। विनय मूलक सव काय को साध लेता है। औरो को भी विनय धम मे प्रवत्त कराता है।"

---

१ दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि स व्व पाणिण।
गाढा य विवागकम्मुणा, समय गोयम मा पमायए॥

—उत्तराध्ययन सूत्र

यह है मानव-जीवन की मौलिकता प्राप्त करने का उपाय।

हम रात्रि मे सोते है और दिन मे जाग उठते है। उठकर आँखे खोलकर जब देखते है तो एक विराट् विश्व फैला हुआ हमे दिखाई देता है। देखा जाय तो निद्रा तथा मृत्यु मे कोई विशेष अन्तर नही है, केवल समय का अन्तर है। जागरूक जीव ही अमर है।

संसार भर के जीवो में मानव ही सबसे कम सख्या में है। फिर भी उसकी महिमा अपार है। ऊपर स्वर्ग-लोक, नीचे नरक-लोक और बीच मे यह मनुष्य-लोक है। मानव की बुद्धि, विवेक, विनय, दया तथा दानादि की मौलिकता देख कर इस मध्यलोक की मनुष्यलोक संज्ञा है, वैसे यहाँ अनेक प्रकार के जीव रहते है। अढ़ाई द्वीप, मानवों का क्षेत्र है। ४५ लाख योजन का यह मानव क्षेत्र है। इस मनुष्य-लोक मे जैन-दर्शन की मान्यतानुसार उत्कृष्ट मानवसंख्या २९ अंक प्रमाण कही है। जो भी हो, मानवो की संख्या संसार के अन्य प्राणियो से कम है, फिर भी मानव जीवन का विशेष और सर्वश्रेष्ठ महत्व है।

मनुष्य लोक में चन्द्र-सूर्य-ग्रह-नक्षत्र तारे हैं तो मनुष्य लोक (ढाई द्वीप) के बाहर भी ये सब है। किन्तु भेद यही है कि यहाँ के चन्द्रादि अपने-अपने स्थान पर चलते है, बाहर के स्थिर बने रहते है।

इस युग मे दुष्काल, वर्षा की कमी आदि देखी जाती है। इसका कारण यही है कि इस वैज्ञानिक और विनाशवादी युग मे मनुष्य ने अपनी मानवता को बहुत अशो तक त्याग दिया है।

स्वर्ग के देवों को भी मानव जीवन तथा मानवता प्रिय है। अत देव-दानव भी मानव बनना चाहते है। मोक्ष का मार्ग मानवता ही है।

मनन तथा विवेक का मनुष्य जीवन मे विशेष महत्व है। इन्हे *मानवता की दो आखें* माना जाता है। *आटा-दाल तथा* नमक-तेल लकडी का चिन्तन और मनन इहलौकिक है। किन्तु मानवता प्राप्त करने का पारमार्थिक चिन्तन ही वास्तविक मनन है। इस प्रकार के,मनन के लिए सद्ग्रथो का अध्ययन किया जाना चाहिए।

जैन दर्शन मे स्वाध्याय को बहुत महत्व दिया गया है। स्वाध्याय मानवता के गुणो को विकसित करता है। विवेक-पूर्वक जो वाचना, पृच्छना, परावर्तन, अनुप्रेक्षा एव धर्म-कथा की जाती है वह फल प्रद होती है। विवेक के प्रकाश मे तत्त्व का मनन-स्वाध्याय करने से अज्ञान का अन्धकार विनष्ट होगा।

मनुष्य को अपना जीवन एव पुष्प के समान बनाना चाहिए। पुष्प स्वय विनष्ट होकर, मसला-कुचला जाकर भी सुगध का वितरण करता है। उसी प्रकार मनुष्य को स्वय कष्ट उठाकर भी अन्य को सुख पहुँचाना चाहिए। यही सच्ची मानवता है।

धर्म की मर्यादा में रह कर, न्याय और नीति का पालन करते हुए जीवन का निर्वाह करना मनुष्य का कर्तव्य है। ऐसा जीवन व्यतीत करते हुए उसे परोपकार के कर्म करने चाहिएँ। जो जन ऐसा करते हैं उन्ही को 'महाजन' कहा जाता है।

प्रत्येक मनुष्य को केवल 'जन' ही नही, महाजन वनना चाहिए, यही मानव-जीवन की सार्थकता है।

मनुष्य को सभी प्राणियो से सुन्दर आकृति प्राप्त हुई है। किन्तु आकृति के साथ-साथ उसे अपनी प्रकृति भी वैसी ही वनानी चाहिए। गुणो का विकास करना चाहिए। गुलाव का पुष्प स्वयं काँटो मे रहकर भी संसार को सुगंध प्रदान करता है। तभी उसका जीवन धन्य है। वे फूल जिनमें सुगंध नही होती, प्रिय नही लगते। मनुष्य को अपने आन्तरिक गुणो का विकास करके अपने मानव नाम को सार्थक करना चाहिए। जो व्यक्ति केवल अपने ही स्वार्थ के लिए जीवित रहते हैं उनका जीवन-मरण समान ही है।

कवीरदास ने, कहा है—

कबीरा सौ कोसो फिरा, मनुष्या तणां सुकाल।
जिनके देखे दुख टले, उनका बड़ा दुकाल।

यदि मनुष्य अपने जीवन को अच्छा वनाना चाहता है तो उसे अपने विचार अच्छे वनाने चाहिएँ। मनुष्य जैसा विचार करता है वैसा ही उसका जीवन वनता है। मनोविज्ञान ने इस वात को प्रमाणित किया है कि विचार ही मनुष्य के जीवन का निर्माण करते है। जो विचार विकार पूर्ण होते है वे पाप के कारण है और जीवन को नष्ट करते है।

कहा गया है—

प्रभु सिमरण सो दुख टले, चुप दुख टले हजार।
गुरु सिमरण लख दुख टले, सब दुख टले विचार॥

अपनी भावना को शुद्ध रखना और अन्य लोगो को भावनाओ को शुद्ध करने का प्रयत्न करना सच्चा धर्म है।

ज्ञानी जनों का कर्त्तव्य है कि वे अपने बुरे विचारों का उपशमन करें।

जीवन मे विरोधी तत्त्व भी होते हैं। उनमे भय करना कायरता है। उन पर विजय करना ही मनुष्य का लक्षण है। दानवता के लक्षण के रूप मे जो युद्ध आदि संघर्ष हैं, उन्हे समाप्त करने मे मनुष्य को अपनी शक्ति लगानी चाहिए।

मनुष्य जीवन नित्य नही है।[१] इस जीवन मे जरा मरण और वेदना भरी पडी हैं। हमे प्रयत्न करना चाहिए कि हम इनके जंजाल से मुक्त हो सकें। केवल भगवान पर भरोसा करके बैठे रहना आलस्य का चिन्तन है। अपने जीवन को अच्छा या बुरा बनाने वाले हम ही हैं। यदि हमारे विचार शुद्ध है, वचन सत्य और प्रिय है तथा आचार विशुद्ध है तो निश्चय ही हमारा भविष्य उज्ज्वल है।

भगवान महावीर ने कहा है कि जो मानव प्रकृति मे भद्र हैं, विनय शील हैं, दयालु वृत्ति के हैं, सदा गुण-ग्राही बनकर रहते हैं वे मृत्यु प्राप्त कर पुन मनुष्य जीवन प्राप्त करते हैं।

प्रिय भाषी शीतल हृदय, सुन्दर सरल उदार।
जो जन ऐसे जगत मे तासें सबको प्यार॥

उपर्युक्त गुणों वाले व्यक्ति ही संसार मे प्यार और आदर प्राप्त करते हैं।

अहिंसा, सत्य, शील आदि अन्य प्राणियों के लिए दुर्लभ गुण ही मानव जीवन की मौलिकता हैं।

---

१ माणुस्सं च अणिच्चं वाहिजरामरणवेयणापउरं।

—औपपातिक सूत्र

अन्त में सन्त तुकाराम के शब्दो मे हम यही कहेगे कि मनुष्य शरीर सोने के कलश के समान है। उसमे विलास को सुरा मत भरो, उसमें तो सेवा की सुधा ही भरो।

समस्त ससार मे सर्वश्रेष्ठ इस नर भव की यही सार्थकता है।

●

मनुष्य के भीतर दो महानशक्तियो का सगम है—इच्छा शक्ति और विवेक शक्ति।

इच्छा शक्ति उसकी दृढ-निष्ठा की प्रतीक है, और विवेक शक्ति उस इच्छा का परिष्कार करती है, तथा परिचालन भी!

सद् इच्छा, और सद् विवेक ही जीवन-रथ के दो चक्र हैं।

—उपाध्याय अमर मुनि

पाठक अब तक यह तो जान ही चुके है कि इस विश्व मे मनुष्य-जीवन अत्यन्त दुलभ है। मनुष्य जीवन प्राप्त हो जाने के बाद भी साधु-जीवन प्राप्त होना और भी कठिन है। अत पुण्योदय से यदि वह जीवन प्राप्त हो तो उसे समुचित रूप से पालन करना ही कत्तव्य है। प्राप्त वस्तु की रक्षा करना, वस्तु को प्राप्त करने से भी अधिक कठिन होता है।

भगवान महावीर की वाणी मे—[1]विवेक पूवक, यत्न से चलना चाहिए। इसी प्रकार स्थित रहना, बठना, शयन करना भोजन करना, बोलना, आसन से उठना तथा प्राण भूत जीव और सत्वो के प्रति सयम पूर्वक वर्ताव करना चाहिए। इस विषय म किंचित मात्र भी आलस्य नही रखना चाहिए।

[2]यत्ना से चले, ठहरे, बठे, सोवे और खान पान म भी यत्ना

---

१ एव गत्तव्व एव चिट्ठियव्व एव निसीइयव्व एव तुयहि यव्व एव भु जियव्व भासियव्व एव उट्ठाए उट्ठाय पाणेहि भूएहि जीवेहि सत्तेहि सजमण सजमियव्व अस्सि च ण अट्ठे णो किंचिवि पमाइयव्व।

—भगवती सूत्र २,३ ६

२ जय चरे जय चिट्ठे, जयमास जय सए।
जय भु जतो भासतो पावकम्म न बधइ।

—दसवकालिक सूत्र

रखे तो जीवन मे पाप कर्म नही बँधता। प्रत्येक प्रकार के पाप से दूर रहना ही साधुता है। साधु, फकीर, सन्यासी योगी के जीवन को इसी लिए पवित्र माना गया है।

साधुता का दीपक जहाँ जगमगाता है उस मुनि के जीवन मे मिथ्यात्व का अन्धकार व्याप्त नही होता। फिर भी छद्मस्थ जीवन मे अपराध होना सहज बात है। इन अपराधो की रोक-थाम के लिए प्रभु महावीर की वाणी का आधार है।

असत्य का सर्वथा परित्याग करना चाहिए। भविष्य-विषयक निश्चयात्मक एव सदोष वचन नही बोलना चाहिए। अन्य भाषादोष एव माया (कपट) का परित्याग करना चाहिए।[३] यह सदा ध्यान मे रखी जाने वाली शिक्षा है।

[४]यदि किसी की कटु और तीक्ष्ण वाणी हमारे कानो में काँटों की तरह लगे तो भी उससे क्रोधित नही होना चाहिए, क्योंकि साधु जीवन क्षमाशील होता है। ऐसे अप्रिय शब्दो को हृदय मे स्थान ही नही देना चाहिए। साधु जीवन मे लाभ-हानि, जीवन-मरण, मान-अपमान, निन्दा-प्रशसा—कैसा भी प्रसंग आए, उसे सदा समभाव से ग्रहण करना चाहिए।

साधु पुरुष को चाहिए कि जीवन मे विद्या, धन, स्वास्थ्य, अनुकूल भोजन आदि मिलने पर अभिमान न करे। क्रोधादि

---

३ मुसं परिहरे भिक्खू, नेव ओहारिणी ए।
भासादोस परिहरे, माय च वज्जए सया॥

उत्त० अ० २, गा० २४

४ सोच्चाणं फरुसा भासा, दारुणा गाम-कटगा।
तुसिणीओ उवेहेज्जा, णो ताओ मणसीकरे॥

उत्त० अ० २, गा० २५

कषाय न करे। मन वाणी काय से दण्डनीय अपराध न करे। नियाना, कपट तथा असत्य मिश्र कपट न करे। हँसी मजाक, शोक, मोह आदि का बन्धन न रखे। ऐसा करने पर ही जीवन स्वतन्त्र बन सकता है।

उसे इहलोक-परलोक की कोई आशा नहीं करनी चाहिए। चाहे कोई कुल्हाड़े से काटे या चन्दन से विलेपन करे, दोनों में समभाव रखना चाहिए। समय पर भोजन मिले या नहीं, उससे व्याकुल नहीं होना चाहिए। समता रस का जो पान करे वही श्रमण है, ब्रह्मचर्य का पालन करे वही ब्राह्मण है, ज्ञान का अभ्यास करने वाला ज्ञानी तथा तप का आराधन करने वाला तपस्वी है।

साधुओं को चाहिए कि गम्भीर, मृदु एवं सरल भाव वाले होकर शील सम्पन्न तथा समाधिवन्त होकर पृथ्वी पर अपना जीवन सफल करें।[५] महाव्रत का पालन करें, इन्द्रिय दमन करें, समिति, गुप्ति क्रिया की शुद्ध आराधना करें। ऐसा करने वाले साधु अपनी साधुता के बल से संसार सागर को पार कर जाते हैं।

यदि ममता से रहित होकर रहा जाय, अहंकार तथा राग-द्वेष आस्रव से दूर रहे तो केवल ज्ञान प्राप्त होता है और सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

---

५ मिउमद्दव सम्पन्ना गम्भीरो सुसमाहिओ।
विहरइ महिं महप्पा सीईभूएण अप्पणा॥
उत्त० अ० २७, गा० १७

६ वएसु इन्दियत्थेसु, समिईसु किरियासु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥
उत्त० अ० ३१ गा० ७

अब हम यह भी विचार करे कि साधुता की सीमा कहाँ तक जायगी ? साधना की कोई सीमा नही है। एक क्षुद्र प्राणी से लेकर अनन्तज्ञानी तपोधनी अरिहन्त पर्यन्त इसका विस्तार है। हम भी साधुता की पाठशाला मे अध्ययन कर रहे हैं।

राह भूले को राह दिखाना, अन्धे को काँटो से वचाना, विना स्वार्थ रोगी की सेवा करना, दीन-दरिद्र जीव पर दया करना, समाज तथा राष्ट्र से स्नेह करना, अपने जीवन में ईर्ष्या-द्वेष-अज्ञान-अन्धश्रद्धा-रूढिवाद नही रखना, विवेक तथा विनय का पालन करना, यह जीवन की प्रारम्भिक साधुता है। यहाँ से प्रारम्भ करने वाला व्यक्ति साधुता के उच्च शिखर पर चढ सकता है।

यदि मनुष्य के साथ कुछ जाना है तो वह सच्ची साधुता से उत्पन्न होने वाली आत्मशुद्धि ही है। शेष सव यही रहेगा। अत. साधुता को प्राप्त करने मे तथा जो साधुता प्राप्त हुई है उसे सुरक्षित रखने मे अथक प्रयत्न किया जाना चाहिए।

जीवन परिचय

समस्त विश्व के प्राणिया मे माता का स्थान सर्वोच्च, एव सवश्रेष्ठ है। भारतीय नारी का आदर्श इसीलिए मातृत्व भाव प्रधान माना गया है। माता के भद्र जीवन म क्षमा दया, करुणा सहिष्णुता तथा प्रम का समुद्र भरा पडा है। उसी की मोद भरी गोद मे पुरुप का लालन-पालन सनातन काल से होता आया है।

ज म देने वाली माता तथा धरती माता से भी उच्च स्थान धम माता का होता है। धम के माता पिता (गुरु आनी तथा गुरु) के अपार उपकार की कोई सीमा नही है। किन्तु दुर्भाग्य से आज के वालक उस उपकार को पूण रूप से स्वीकार नही करते। प्राचीन युग मे भगवान महावीर, कृष्ण महाराज आदि महापुरुषा ने माता के अन य उपकार को स्वीकार किया है तथा महत्व दिया है।

आज के युग म तो उपकार को वहुत कम लोग स्वीकार करते हैं और उपकार का वदला चुकाने वाले तो और भी कम ह। जहा तक माता का प्रश्न है, वह तो वडे नि स्वाथ भाव से अपनी स तान का पालन करती है। वह यह नही सोचती कि उसकी स तान उसके उपकार का वदला देगी या नही। इसीलिए उसके स्नेह को श्रेष्ठ माना जाता है।

धर्म का वीजारोपण करने वाली अथवा ज्ञान, दर्शन रूप जिन वाणी का अमृत पिलाने वाली धर्म माता लेखक के लिए श्री शील कु वर जी महाराज है। उनके उपकार का प्रकाश दोनो लोक मे पडता है। मेरे जैसे ग्रामीण वालक को आपने जैन धर्म से प्रथम वार सुसम्कृत किया। मुझे समकित रूपी रत्न प्रदान किया। मानो मुझे कृष्ण पक्ष से शुक्ल पक्ष मे ला दिया। यह महान् उपकार मुझ पर करने वाली श्रद्धेया गुरुणी जी श्री शील कुंवर जी महाराज का पुनीत, सक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है :—

श्री शील कुंवर जी महाराज ने वाल्यावस्था मे भागवती दीक्षा ली है। आप श्री का जन्म नाम अजन कुंवर वाई था। माता तथा पुत्री ने साथ मे सयम लिया है। माता श्री का नाम श्री शम्भु कुंवर जी महाराज था। उदयपुर के समीप झडोल तहसील मे खाखट ग्राम निवासी धनराज जी पोरवाल की सुपुत्री थी। अजन कुंवर वाई उदयपुर की धार्मिक शिक्षण शाला में पढती थी। आपका पठन-पाठन प्रारम्भ से ही अति उत्तम रहा। जैन शिक्षण सस्था मे आप प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण हुआ करती थी। उसी समय वहाँ श्री धूल कुंवर जी महाराज आदि विराजते थे। उपदेश सुनकर आपके मन मे वैराग्य उत्पन्न हुआ और सयम की भावना जागृत हुई।

उदयपुर मे श्रीमान् मोहनलाल जी सीघट वाडीया के साथ आपका सम्वन्ध हो गया था इसलिए दीक्षा के लिए आज्ञा प्राप्त करना कठिन हो रहा था, किन्तु आप की प्रवल चढती हुई विचार धारा को कुटुम्व का वन्धन रोक नही सका। अवश्य ही अच्छे कार्य मे विघ्न तो आते ही है, किन्तु गहरी

जडो वाले वृक्षो को भयकर आवी और तूफान भी नही हिला सकते। अजनकु वर वाई का सकल्प सुमेरु पवत के समान सुदृढ ही रहा, उन्होने यह घोषित कर दिया था कि ससार के सभी पुरुष मेरे भाई ह। विवाह मुझे नही करना है। मोहनलाल जी सीगट वाडीया को मैं अपना भाई समझती हू। मेरी यह मगल कामना है कि वे घम काय मे अपनी वहन का सहयोग देवें।"

छह मास तक सघप चलता ही रहा किन्तु शुद्ध और दृढ निश्चय के समक्ष सारे विरोधो को हार माननी पडी और अत मे दीक्षा की आज्ञा मिल गई। माता जी अपनी सुपुत्री के साथ अपने गाव खाखट पहुँची। यहा पर महामती जी विराज मान थी। विक्रम सम्वत १९८२, फागुन सुदी २ के दिन वडे समारोह के साथ दीक्षा समारोह सम्पन्न हुआ। माता की दीक्षा का नाम श्री शम्भु कु वर जी तथा आपका नाम श्री शील कु वर जी रखा गया। दीक्षा के उपरान्त महासती जी महाराज भजावद पधारे। वहा पूज्य गुरुदेव श्री ताराचन्द जी महाराज विराजमान थे। उन्ही के सानिध्य मे भागवती वडी दीक्षा हुई। गुरुदेव की सेवा मे रहकर आप श्री का अच्छा और उत्तम पठन-पाठन हुआ। श्री शम्भु कु वर जी महाराज वडी शान्त-दान्त थी। अनेक विघ सदगुणो की आराधना करती हुई सयम साधना सुन्दर ढग से करने लगी। आपकी वाणी म ता माना अमृत वरसता था। इसी प्रभाव से आप सव सती समाज की सार सम्हाल रखने लगी। श्री धूना जी महाराज का साय भार भी आपके कधो पर आ गया।

सदगुणी जी श्री शील कु वर जी महाराज सदा शील और सौजन्य की साक्षात मूर्ति वन कर रहती हैं। आपने धम

प्रचार करते हुए मेवाड, मारवाड़, मालवा तथा जयपुर पर्यन्त खूब देशाटन किया है।

प्राकृत, हिन्दी तथा उर्दू भाषा मे आपने अच्छी प्रगति की है। आपके सुन्दर प्रवचन आध्यात्म प्रधान होते है। आपके प्रवचनो मे तथा वार्तालाप मे वह जादू है कि श्रोताजन आपकी वाणी को कभी भूल नही सकते।

मन और वाणी के उस उत्कृष्ट प्रभाव का मूल कारण शुद्ध त्याग, वराग्य एव आचार है।

इसीलिए कहा गया है—

"आचारः प्रथमो धर्म.।"

आपके इस उत्तम आचार का ही पुण्य-फल है कि जनता पर आपका प्रभाव अद्वितीय होता है। आपके इन्ही गुणो के कारण हर चातुर्मास मे आपश्री की सेवा मे दर्शनार्थियो का जमघट लगा रहता है। त्याग, तपस्या का कार्यक्रम निरन्तर चलता ही रहता है। आप श्री द्वारा दया, पौषध तथा धार्मिक-शिक्षा प्रचार का मौलिक आदेश सदैव ही दिया जाता रहता है। आपश्री की कृपा से आपकी अनेक सुयोग्य शिष्याए भी तैयार हुई है।

आपश्री की गुरु वहने श्री पान कुंवर जी महाराज, श्री सोभाग कुवर जी महाराज, श्री लहर कुंवर जी महाराज है, तथा शिष्याओ मे श्री सुन्दर कुवर जी महाराज, श्री मोहन कुंवर जी महाराज श्री शायर कुंवर जी महाराज, श्री दया कुंवर जी महाराज विदुषी श्री चन्दनवाला जी, श्री लहर कुंवर

जी महाराज की शिष्या श्री खमाण कु वर जी महाराज हैं। श्री प्रताप कु वर जी तथा एजाजी महाराज भी आप श्री की सेवा मे ही विचरते है।

श्री च दनवाला जी 'जन सिद्धान्ताचाया' समाज के लिए एक होनहार सती है।

●

साधना का उद्देश्य क्या है ?

सुख भाग, या प्रतिष्ठा ? स्वग या मोक्ष ? नहीं, इनमे कोई भी उद्देश्य सही नही है।

साधना का एक लक्ष्य होना चाहिए, और वह यह कि जीवन म पवित्रता आए, आत्मा म प्रकाश और आनन्द की लहर उठे।

पश्चिम के महाकवि शेक्सपियर ने कहा है—

Coward die many a times before their death.. the varients die but once इस कथन का अभिप्राय है कि 'कायर व्यक्ति अपनी मृत्यु से पूर्व ही अनेक बार मरते है, किन्तु वीर पुरुष तो केवल एक ही बार मृत्यु को प्राप्त होते है।'

यह कथन अत्यन्त सारगर्भित है। कायर व्यक्ति सचमुच ही क्षण-प्रतिक्षण भय से ग्रसित रहता है। उसका जीवन, जीवन ही नही रहता। वह तो निरन्तर मृत्यु की वेदना का ही अनुभव करता रहता है। इसके विपरीत जो वीर पुरुष होते है, वे मृत्यु का कभी भी भय नही करते। मृत्यु को तो एक दिन आना है ही। उसकी एक निश्चित घडी है। पल के जितने छोटे अश बराबर भी उस घड़ी मे परिवर्तन नही हो सकता। तब मृत्यु से किस लिए भय ?

वीर पुरुष साहस के साथ जीवन से सघर्ष करते है। इस प्रकार वे जीवन और मृत्यु दोनो पर ही विजय पा लेते है। ससार उनके समक्ष आदर से झुक जाता है और सदा-सदा के लिए उनका कृतज्ञ रहता है।

कवि ने कहा है—

इस धरती पर वीर पुरुष ही,
नाम अमर कर जाते हैं।
कायर नर तो जीवन भर बस,
रो रो कर मर जाते हैं॥

—अमर भारती

मनुष्य को यह विचार करना चाहिए कि उसके जीवन का अर्थ और अभिप्राय क्या है ? अपने जीवन का एक सुनिश्चित ध्येय वना लेने के वाद उसे दृढता एव साहसपूवक उस ध्येय की पूर्ति म जुट जाना चाहिए।

मनुष्य का अपने समाज और देश के प्रति एक कत्तव्य होता है। उम कत्तव्य की पूर्ति वह तभी कर सकता है जवकि अपने गुणो का विकास करे। यह उसका कत्तव्य है कि वह योग्य वने तथा स्वय योग्यता प्राप्त करके अ य व्यक्तियो का मागदर्शन करे, उनका उचित नेतृत्व करे।

नेता वनना कोई आसान वात नही है। यह काटो का ताज है। इस ताज को धारण करने वाले व्यक्ति मे असीमित साहस और योग्यता हानी चाहिए। ऐसे व्यक्ति को निष्पक्ष एव चरित्र-वान होना चाहिए। यदि अयोग्य व्यक्ति समाज का नेता वन जाता है तो वह समाज को पतन के गत्त म डाल देता हैं। प्राचीन काल से आज तक इसके अनेक उदाहरण हमे देखने को मिल सकते है। इसी 'युग मे लीजिए—हिटलर जमन राष्ट्र का नेता वन गया। किन्तु नेता वन जाने के वाद उसने अपने राष्ट्र की शक्ति को युवको की प्रतिभा को जिस दिशा मे मोडा, उससे समस्त राष्ट्र का विनाश हा गया और आज जमनी के दो टुकडे हो गए। भयकर महायुद्ध के परिणाम स्वरूप उस राष्ट्र की तथा समस्त विश्व की जो धन-जन की अपार हानि हुई उसका हिसाव लगाना भी कठिन है।

इसी प्रकार आज चीन में माओ-त्से-तुंग अपनी ऊट-पटांग कल्पनाओ को साकार करने के प्रयत्न मे सारे विश्व मे अशांति फैला रहा है। भारत चीन का पड़ौसी देश है। शताब्दियों से भारत और चीन की मैत्री रही है। किन्तु केवल एक अयोग्य नेता के कारण वह चिरकाल की मैत्री समाप्त हो गई है और युद्ध की आशंका प्रवल होती जा रही है।

अपने घर को ही लीजिए। भारतवर्ष पराधीन था। कहते है कि "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं"—अत. इस देश के सुयोग्य नेता गाँधी और नेहरू ने विदेशी शक्ति को ललकारा। सारा देश उस ललकार को सुनकर जाग उठा। देश में एक नई शक्ति की लहर दौड गई और शताब्दियो से पराधीन भारत अन्त में इनके नेतृत्व मे स्वतन्त्र हुआ। ऐसा नेतृत्व ही सफल नेतृत्व है।

इस चित्र का एक दूसरा पक्ष भी है। भारतीय स्वतत्रता-सग्राम में हिन्दू और मुसलमान भाई-भाई को तरह साथ-साथ जूझ रहे थे, यह उचित ही था। सदियो से वे इस देश में भाई-भाई की तरह रहते चले आए हैं। किन्तु दुर्भाग्य से मुसलिम जाति के कुछ नेताओ के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि मुसलमानो का अलग राष्ट्र होना चाहिए। भोली जनता उनके पीछे हो गई और भारत जैसे महान् राष्ट्र के दो टुकडे हो गए।

कहने का अभिप्राय इतना ही है कि नेता एक वहुत ही उत्तरदायित्व पूर्ण व्यक्ति होता है। उसे एक क्षण के लिए भी शिथिल नही होना चाहिए। उसे सतत जागरूक रहकर अपने अनुयायियों, अपने समाज, अपने राष्ट्र का हित-साधन करना

चाहिए। यदि वह कोई चूक करता है तो उसका परिणाम सारे देश को भोगना पडता है।

जो सबको साथ लेकर चलता है वही नेता होता है। उसकी नीति निर्मल होनी चाहिए। पक्षपात की भावना से उसे कोसो दूर ही रहना चाहिए। यदि वह पक्षपात करेगा तो उसके प्रति लोगो मे श्रद्धा नही रहेगी। नेता को अपने जीवन मे नीति एव धर्म को स्थान देना अनिवार्य है।

ऐसे नैतिक जीवन के निर्माण की आधार शिला अहिंसा और सत्य है। इन्हे त्यागकर कोई भी व्यक्ति नैतिक जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। इस युग मे विश्व के महान् पुरुष महात्मा गाधी ने भगवान महावीर के चरण चिन्हो पर चलकर अहिंसा और सत्य को ही अपने जीवन का आधार बनाया। इसी कारण अपने जीवन मे सफलता प्राप्त हुई और सारे ससार ने उनका जयकार किया।

प्रत्येक मानव को इन गुणो का विकास करना चाहिए। नेता बनने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति आशा-तृष्णा, विषय वासना, तन धन के मोह आदि से दूर रहे।

[1]सज्जन व्यक्ति दुर्गुणो से दूर रहते हैं। वे किसी पर क्रोध नही करते। क्रोध कभी करना भी पडे तो उस व्यक्ति का वे अहित चिन्तन नही करते। बुरे शब्दो को अपने मुख मे लाना ही नही चाहते।

---

१ सुजणो न कुप्पइच्चिय, ग्रह कुप्पइ मगुल न चिन्तेइ।
मह चितेइ न जप्पइ, मह जप्पइ लज्जिरो होइ।
—श्री हेमचन्द्राचार्य

[२]महान् पुरुषो के मन में आने वाली महान् कल्पनाए ही अपना फैलाव करके अपना शुभ फल जगत को प्रदान करती है।

महान् बनने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को महात्मा गाँधी के इन शब्दो को जो कि उन्होने अपनी आत्मकथा में लिखे है सदा स्मरण मे रखना चाहिए—"बडे बूढो के दोष न देखने का गुण मुझमे स्वाभाविक था। बाद मे तो इन मास्टर साहब के दूसरे दोष भी मेरी नजर में आये, फिर भी उनके प्रति मेरा आदर ज्यो का त्यों बना रहा। मै इतना जानता था कि बडे-बूढो की आज्ञा का पालन करना चाहिए। वे जो कुछ करे उसका हमे काजी नही बनना चाहिए।"

[३]नेता वही व्यक्ति बन सकता है जो परिवार में चतुराई मे व्यवहार करे, गरीबो पर दया करे, दुर्जनो को दबाये रखे, सज्जनो से प्रेम करे, राजा के साथ न्याय से व्यवहार करे, गुणीजन की पूजा करे, शत्रु पर विजय प्राप्त करे, माता-पिता गुरुजनो के समक्ष झुक कर रहे, स्त्री को रहस्य की बात न बताए। इन गुणो के अभाव मे व्यक्ति नेता नही बन सकता।

---

२ हियए जाओ तत्थेव वड्ढियो नेय पयडिओ लोए।
ववसायपायओ सुपुरिसाण, लक्खिज्जइ फलेहिं।
—श्री हेमचन्द्र आचार्य

३ दाक्षिण्य स्वजने दया परजने शाठ्यं सदा दुर्जने,
प्रीति साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जनेष्वार्जवं।
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारी जने धूर्तता,
ये चैतासु कलासु कुशलाः ते चैव लोकस्थिति।
—भर्तृहरि नीति शतक,

नेता मे वीरत्व आवश्यक है। उसे वीर और उत्साहपूर्ण होना चाहिए। जो व्यक्ति कायर है वह नीच है। कायरता और उद्यमहीनता ही नीचता कही जाती है। ऐसे कायर और कमजोर व्यक्ति जीवन मे कभी कोई महान कार्य कर ही नहीं सकते। वे सदैव भविष्य मे आने वाली विघ्न-बाधाओं का विचार करके किसी कार्य को आरम्भ ही नही करते, यदि आरम्भ कर भी दें तो आने वाली बाधाओं से घबराकर उस कार्य को बीच ही मे छोड बैठते हैं। ऐसे व्यक्ति न अपना कल्याण कर सकते हैं और न ही वे किसी अन्य का मार्ग-दर्शन कर सकते है।

उपरोक्त नीच और मध्यम प्रकार के व्यक्तियों के अलावा जो उत्तम जन होते हैं वे कभी किसी बाधा से भय नहीं खाते। साहस-पूर्वक कार्य को आरम्भ करते हैं और अनेक बाधाओं के मार्ग मे आने पर भी अविचलित रहकर अपने कार्य को पूरा करके ही छोडते हैं। अपने लक्ष्य की प्राप्ति करके ही वे चैन से बैठते है।

कहा गया है—'सव्वा कला धम्म कला जिणइ।' धर्म-कला सारी कलाओं में उत्तम है। इस धर्म कला के अभाव में सफलता की कोई आशा नहीं की जानी चाहिए। जिस प्रकार

---

४ प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचै
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्या ।
विघ्नै पुन पुनरपि प्रतिहन्यमाना
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति ॥

—नीति शतक

सुन्दर शरीर हो, किन्तु ग्राँखे न हों तो वह शरीर व्यर्थ है, उसी प्रकार धर्मकला के ग्रभाव मे शेष सभी कलाए एक प्रकार से विकलांग ही मानी जॉयगी। इस कला के ग्रभाव मे ग्रन्य कलाए धीरे-धीरे विनष्ट हो जॉयगी ग्रौर व्यक्ति के उन्नत व्यक्तित्व की चमक बुझ जायगी।

साराश यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को ग्रपने जीवन को समझना चाहिए, ग्रपने उत्तरदायित्व को निभाना चाहिए। ग्रपने गुणो का समुचित विकास करके समाज तथा राष्ट्र का हित तथा नेतृत्व करना चाहिए।

●

सकलापि कला त्रिकलावतां,
विकला धर्म कला विना खलु।
सकले नयने वृथा यथा,
तनुभाजां हि कनीनिका विना॥

रुको नही, आगे चलो !

जीवन एक यात्रा है। ऐसी यात्रा जिसकी अन्तिम मजिल है मुक्ति। जब तक हम अपनी उस मजिल तक नही पहुच जाते, हमे रुकना नही है। यदि हम मार्ग मे ही रुक जाते हैं, थककर आगे बढने का साहस खो बैठते हैं तो हम अपने उद्देश्य, अपनी मजिल तक कभी नही पहुच सकेगे।

कोई हमारे साथ चले अथवा न चले, कोई हमें सहारा दे या न दे, हमे रुकना नही है। हम अकेले ही अपने लक्ष्य की ओर बढना होगा। इस युग के महाकवि रवीन्द्रनाथ टगोर ने इस भाव को अपनी एक कविता मे बडे ही सुन्दर और मार्मिक ढग से व्यक्त किया है। वे कहते हैं—

"एकला चलो ! एकला चलो !
एकला चलो रे "

—अकेला चल, अकेला चल, रे मनुष्य तू अकेला ही चल।

रात दिन चलकर भी जो यात्री अपनी मजिल पर न पहुँचे वह अवश्य ही कही भूल कर रहा होगा। कही गलत राहा पर भटक रहा होगा ? अत यात्री को चाहिए कि वह अपनी मजिल को पहचाने। उसे यह जानना चाहिए कि उसका गन्तव्य क्या है ? यह जानने के बाद उसे यह भी ठीक प्रकार से जानना चाहिए कि उसे अपने गन्तव्य तक ले जाने वाला ठीक मार्ग कौन-सा है ?

यदि यात्री को यही नही मालूम कि उसे कहाँ जाना है तो वह जायगा कहा ?

और यदि उसे यह तो मालूम है कि उसे कहाँ जाना है, किन्तु वहाँ तक पहुँचने का मार्ग नही मालूम है तो वह वहाँ कैसे पहुँचेगा ?

ऐसे अज्ञानी व्यक्ति को तो चिरकाल तक भटकना ही पडेगा ।

महापुरुष सदैव अपना निश्चित मार्ग बनाकर चलते है। तभी वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर पाते है ।

केवलज्ञान तथा केवलदर्शन के धनी ही महापुरुष माने गए है । वे तप की साधना करके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन-शक्ति प्राप्त करके मोक्ष-मार्ग की घोषणा करते है। उस पथ के पथिक बन कर वे निरंजन, निराकार हो जाते है ।

शास्त्रकार ऐसे महापुरुषो को पथिक अवस्था मे तीर्थङ्कर अरिहन्त कहते है। उन्ही के पद-चिन्हो पर चलकर हमे अपनी मजिल तक पहुँचना है। यही हमारा दृढ निश्चय है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, शील, मे रमण करना तथा ममता-मूर्च्छा से रहित होकर रहना ही हमारे सयमी जीवन का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की घोषणा अरिहन्तो द्वारा की गई है। वे कहते हैं कि अहिसा ही धर्म है ।

प्राण, भूत, जीव, सत्व की हिंसा न करे बलात् आज्ञा न करे बलात् दास न बनावे परिताप न दे, उपद्रव न करे यही धर्म नित्य है। जिस प्रकार अहिसा का प्ररूपण किया गया है उसी प्रकार सत्य आदि सिद्धान्तो के विषय मे भी है। हम उन्ही सिद्धान्तों पर चले है, आगे भी उन्ही सिद्धान्तो पर हम चलेगे ।

यही हमारे चलने की परम्परा है जिसे भगवान् ऋषभदेव व महावीर प्रभु ने ग्रहण किया है।

अरिहन्त प्रभु किसी गत अरिहन्त के पद चिन्हो पर नही चले। वे अपना निर्णय स्वयं अपने आत्म बल से प्राप्त ज्ञान द्वारा करते हैं। अहिंसा आदि महाव्रतो का पालन तो उसी प्रकार होता है, किन्तु किसी विगत पथ का वे महापुरुष ज्यो का त्यो पालन नही करते। इसका अभिप्राय यह नही कि अरिहन्तो के निर्णय परस्पर भिन्न होते हैं, तथापि उनका निर्णय अपना ही होता है। स्वयं ही अपना मार्ग देखने की शक्ति होती है।

जैन दर्शन के नियमानुसार काल चक्र के दो विभाग हैं—उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी। दस क्रोडा क्रोडी सागरोपम का एक सर्पिणी (काल चक्र) होती है। प्रत्येक सर्पिणी काल चक्र मे २४ तीर्थङ्कर होते हैं। वे चौथे आरे मे जन्म लेते हैं। बालवय से मुक्त होने पर वे प्राय विवाह करें, परिवार वाले बने राज्य कर, षटखण्ड पर शासन करें, गृहस्थावस्था मे रह कर वे चाहे जितना बल पराक्रम पुरुषार्थ करलें फिर भी वे भगवान नही होते। उनके पद चिन्हो पर कोई धर्म के आचरण हेतु नही चले। न वे उस अवस्था मे रहकर त्याग का उपदेश करते है। किन्तु अवधि ज्ञान के बल से व अपना समय देखें समझें, फिर गृहस्थाश्रम को त्याग कर संयमी जीवन स्वीकार कर, घोर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करें, तप का पूर्ण आचरण करें। स्वयं अपनी पूर्ण एवं कठोर साधना के बल से, बिना किसी अन्य व्यक्ति का सहयोग लिए जो केवल ज्ञान प्राप्त करें, धर्मोपदेश दे, चार तीर्थ की स्थापना करें, तब वे तीर्थङ्कर कहलाते है। उन्ही तीर्थङ्करो के पद चिन्हो पर चलकर जीवन

को सार्थक बनाना चाहिए। उनके पद-चिन्हो पर चलने वाले चार (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका) तीर्थ हैं।

इन पद-चिन्हों पर चलने पर जीवन का अशेष कल्याण होना निश्चित है। किन्तु इतना अवश्य है कि उन्हे पहिचानना कुछ कठिन है। यदि भूल से गलत चिन्हों पर, गलत मार्ग पर व्यक्ति चल पडे तो फिर अनन्त काल की भटकन के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ लगना संभव नही है।

भगवान महावीर से आज तक का इतिहास हमारे सामने है। यह दृढता और विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि पथों का पृथक्करण मूल भावना को ठीक प्रकार समझे विना एकान्त आग्रह के कारण हुआ है। अन्यथा सिद्धान्त एक ही है और सभी जैन एक ही .पंथ के पथिक हैं। एक ही शासन-नायक श्री महावीर के पदचिन्हो पर चलने वाले है—फिर वाद-विवाद का पक क्यो ?

मुक्ति रूप कमल की प्राप्ति के लिए इस पक से वचना होगा।

कोई भी वेश हो, कोई भी देश हो, सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपाराधना ही वे पद-चिन्ह है जिन पर हमे चलना है। उन पर चलो और निरन्तर चलते चलो जव तक मजि हासिल न हो।

किसी वाटिका मे यदि सुन्दर वृक्षावली हो, भाति भाँति के मनोहर सुमन खिले हो, तो उसे देखकर चित्त प्रसन्न होता है। ठीक उसी प्रकार यदि किसी समाज मे उत्तम प्रवत्तियाँ व्याप्त हो तो वह एक श्रेष्ठ समाज माना जाता है।

एक क्षमाशील, आचारवान, उदार एव मर्यादाशील समाज का देश मे, विश्व मे आदर होता है। जन समाज प्रारम्भ से ही भारतवप के श्रेष्ठ समाज के नाते इस राष्ट्र मे सम्माननीय रहा है। जन धर्मानुयायी अपने व्यवहार एव जीवन की वत्तिया मे सदव सात्विक रह हैं, इस कारण यह समाज धन धान्य एव परिवार आदि से समृद्ध रहकर धम की आराधना करत हुए नन्दन वन के समान ऐश्वय शाली बना रहा है। इसी कारण जन समाज की जडें बहुत गहरी भी है।

इस समाज के मूल उपदेष्टा, नेता, वक्ता तथा इष्ट देव भगवान ऋषभदेव जी व महावीर आदि हैं। आज हम श्री भगवान महावीर के शासन मे चल रहे हैं। उन्ही जिन राज का अनुयायी जन समाज है।

भारत मे हिन्दु मुसलिम, ईसाई, सिख, बौद्ध तथा जैन आदि अनक समाज हैं। सभी अपने अपने दायरे म पनपने वाले है। और समाजा की भाँति जन समाज भी स्वतन्त्र तथा समृद्ध है।

समाज मे दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ देखी जाती है। एक धार्मिक तथा दूसरी व्यावहारिक। आत्म कल्याण के लिए जो ज्ञान क्रिया का आचरण है वह धार्मिक, तथा आजीविका के लिए जो प्रवृत्ति की जाय वह व्यावहारिक है। उसे लोक-व्यवहार कहते है।

लौकिक त्योहार, राष्ट्रीय पर्व, विवाहादि लोक-व्यवहार है। तथा पर्युषण, वीर जयन्ती, ज्ञान पचमी जैसे धार्मिक पर्व माने जाते है। ये सभी परम्पराए प्राचीन समय से चल रही है। उनकी जडे दृढ व गहरी है, किन्तु समय एव परिस्थिति के अनुसार उनमे सामान्य परिवर्तन होता रहता है। इतिहास और आगम इसके साक्षी है। इसमे कोई हानि भी नही है। मूल ही सुरक्षित न रहे तव अन्य परिवर्तन विकृत माने जॉयगे।

यह एक विचारणीय प्रश्न है कि भगवान महावीर से आज पर्यन्त कितना और कहाँ-कहाँ परिवर्तन हुआ? आगम भी अनेक आपत्तियो मे से निकल कर आए है। अनेक प्रकार की सामाजिक हलचल, आक्रान्ताओ के वर्वर आक्रमण, दुष्काल तथा अराजकता के भयकर काल मे से ये आगम सुरक्षित आए यह विशेपता और महत्ता धन्य है।

विच्छेद हुए शास्त्रो के पश्चात् अनेक विवादो का चलना स्वाभाविक रूप से सभव है। आचार्यो की दी हुई परम्परा मे भी वहुत परिवर्तन आया स्थानकवासी जैन समाज मे तथा मूर्तिपूजको मे आज भी प्रतिदिन परिवर्तन हो रहा है। विज्ञान के युग मे नये विचार वाले आगे आ रहे है। उनके

शब्दा म तुमुल भावना है। रूढियो को तोडने वाले इस युग मे मूल व्रत रूप उद्देश्य से दूर जा रहे ह।

समाज मे परिवतन आता ही रहता है। उचित भी और अनुचित भी। प्राचीन तथ्यो का ज्ञान हमे ग्रन्था के आधार से होता है। किन्तु वतमान को हम स्वय अपनी आखो से देखते है। सादडी के वृहत्सम्मेलन, साजत मन्त्रि मण्डल की बठक तथा अजमेर का द्वितीय वृहत्सम्मेलन मैंने देखा है। इन सम्मेलना के प्रभाव से शिक्षा, सगठन तथा पारस्परिक स्नेह मे अभिवृद्धि हुई है।

सम्मेलना मे नियमोपनियम भी बने। किन्तु यह स्वीकार करना होगा कि व्यथ का खच कम नही हो पाया है। आज भी बडे-बडे मुनिराजो के चातुर्मासा की सफलता केवल दूर दूर मे हजारो यात्रिया के बहुत-सा द्रव्य खच करके आने मे ही समझी जाती है। यह ठीक नही। धमभाव बढे यह तो ठीक ही है, किन्तु केवल व्यथ धूम धाम हो और उसी म सारी सफलता मानी जाय यह कहा तक उचित कहा जायगा ?

[1]मूर्ति पूजक समाज के उपधान तप और स्थानक-वासी समाज के बडे आचार्यादि मुनिराजो के चौमासे की तुलना की जा सकती है। उपधान तप के अनावश्यक तत्वा मे अभिवृद्धि हुई है।

---

१ आजकल हमारे समाज म उपधान तप की आबालवृद्ध तक प्रसिद्धि है और उसके निमित्त प्रतिवष लाखो रुपय खच होते हैं। पहल उपधान तप सामान्य तप के रूप म प्रसिद्ध था और साधु के वणन म आता था। उपधान म उपवास, आयबिल का ही तप होता था। [आगे पेज पर देखें]

यह सत्य है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है। किन्तु अति का सर्वत्र ही वर्जन किया गया है। इसीलिए शास्त्रकारो ने कहा है—अति सर्वत्र वर्जयेत्"। मर्यादा को तोड़ कर आगे बढ़ना अपराध ही है, क्योंकि उससे समाज की हानि होती है।

उदारता अच्छी है इससे कौन इन्कार करेगा ? किन्तु इस भावना के पीछे यदि मात्र ख्याति की भूख हो तो वह बुरी है। ऐसा होने पर व्यर्थ धन खर्च होता है। फिर वह किसी भी समाज द्वारा किया जाय। अनेक सामाजिक कार्य ऐसे है, जिनका किया जाना आवश्यक है। किन्तु उसकी मर्यादा भी होनी चाहिए। मर्यादा से आगे बढने पर सभी कार्य बिगड जाते है। ऐसे कार्यो मे धार्मिक तथा व्यावहारिक दोनो ही कार्य सम्मिलित हैं।

विक्रम की १५ वी शती मे खरतर गच्छ के आचार्य तरुण प्रभु ने तपोविधि मे परिवर्तन किया। व्यक्तिगत आराधना से हटकर यह तप गृहस्थो मे समूहो द्वारा होने लगा। उपधानवाही मानवो के जीवन मे कोई नवीनता प्रतीत नही होती। आरम्भ समारम्भ और व्रत पालन मे कोई अन्तर नही पडता। साधु जी डेढ-दो मास की चहल-पहल और सैकडो स्त्री-पुरुषो के परिचय मे रहकर सन्तुष्ट होते है। यह उपधान की करामात नव्य निशीथ और बाद के समाचारी ग्रन्थो ने फैलाई है। समय रहते उपधान की प्रवृत्ति मे समयोचित सशोधन न हुआ तो इस तपोविधान को दफनाने की माँग होगी। परिणाम जो होगा उसकी कल्पना की जा सकती है।

'प्रबन्ध पारिजात'
(ले० मुनि कल्याण विजय जी महाराज'

पुराने व्यक्ति श्रद्धा का ग्राश्रय अधिक लेते ह। धम श्रद्धा से चलता है। किन्तु श्रद्धा और बुद्धि का उचित सामञ्जस्य तो होना ही चाहिए। परस्पर विचार और सहयोग द्वारा उनके भेद की खाई को पाटा जा सकता है।

स्थानक्वासी समाज मे ग्राचार विचार की ग्रच्छी परम्पराए हैं, किन्तु इतना होते हुए भी यदि समाज के जाने-माने लेखक इस समाज से सन्तोप प्रगट न कर तो दुख होना स्वाभाविक है।[२] किन्तु ऐसा होने पर विचार ग्रवश्य किया जाना चाहिए कि यह ग्रसतोप क्यो है? और यदि वह ग्रसतोप सकारण है तो उन कारणो को दूर करके समाज को शुद्ध बनाये रखना हमारा कत्तव्य भी है।

सवत्सरी

जन समाज का 'सवत्सरी' एक मौलिक एव पावन पव है। धार्मिक पर्वो मे इसे पवराज' कहा जाता है। इस का लक्ष्य है ग्रात्मशुद्धि। यह ग्रत्यन्त प्रचीन काल से चला ग्रा रहा है।

---

२ समाज के विस्तार और विकास के साथ ही उसके पुराने शास्त्र में ग्रानेवाली ग्राचार विचार की प्रणालियो को नये युग का सामना करना पडता है। तब पुराने और नए विचारो में कभी-कभी देवासुर सग्राम सा तुमुल द्वन्द्व भी मच जाता है। पुरानी प्रणालियो का एक मात्र बल श्रद्धा है। नवीनयुग तक या बुद्धिवाद से ग्रारम्भ होता है। उसका काय पुरानी मान्यताग्रो की विश्लेपण प्रधान परीक्षा करना है। ग्रब केवल श्रद्धाजीवी पुरातनता नवयुगान परीक्षा की कसौटी के सामने ठहरने म ग्रसमथ है।

—प्रज्ञाचक्षु प० सुखलाल जी

श्रमण भगवान महावीर ने वर्षा-काल के चार मास मे से एक मास वीस दिन व्यतीत होने के वाद और चार मास के ७० दिन शेप रहते सवत्सरी प्रतिक्रमण किया। यह इसका मूलाधार है।[१]

जैनो का पर्वराज संवत्सरी ही है। इसे वड़े उत्साह एव समारोह पूर्वक मनाया जाता है।

किन्तु इस पर्व के विपय मे श्वेताम्वर समाज मे जो मतभेद होता है वह वड़ा कष्टकर है। श्रावण-भाद्रपद मास वढने पर समाज में झगडे जैसी स्थिति होती है। एक पक्ष मानता है कि जव चौमासे के एक मास और वीस दिन वीत जांय तव सवत्सरी करना, अर्थात् दो श्रावण हो तो दूसरे श्रावण मे और दो भाद्रपद हो तो प्रथम भाद्रपद मे सवत्सरी की जाय।

दूसरे पक्ष के अनुसार श्रावण दो हो तो भाद्रपद में और भाद्रपद दो हो तो दूसरे मे इस पर्व को मनाया जाय। कारण यह कि चातुर्मास के ७० दिन जव शेप रहे तवही यहपर्व मनाया जाना चाहिए।

यह मतभेद का विपय है। किन्तु यह मतभेद कोई सैद्धान्तिक मतभेद तो है नही कि जिसके लिए सघर्ष किया जाय। अत हृदय की सरलता तथा समाज के सगठन को वनाये रखने के लिए, धर्म की आराधना को ही मुख्य लक्ष्य-विन्दु मानकर किसी भी एक निश्चय पर पहुँचना चाहिए।

---

२ समणे भगव महावीरे वासाण सवीसइराइमासे वइक्कते सत्तरएहि राइदिएहिं सेसेहिं वासावास पज्जोसवेइ।

—समवायाग सूत्र, ७० वाँ बोल।

जो भी उचित और स्वाकाय हो उस तिथि को सामूहिक रूप से इस पव को मनाया जाकर समाज को आगे बढाने का शुभ प्रयत्न किया जाना चाहिए।

कल्पसूत्र एव समवायाग के नियमानुसार गणधरा ने, स्थविरा ने, आचार्यों ने चौमासे के ५० दिन हाने पर सवत्सरी पव की आराधना को है। आज भी इसी मान्यता वाले लोग समाज मे अधिक ह। किन्तु हम तो चाहगे कि प्रत्येक आग्रह को त्याग कर किसी भी एक निणय पर पहुँच कर हमें शुद्ध एव सरल हृदय से धम की आराधना मे प्रवृत्त होना चाहिए।

कोई भी समाज तभी स्थिर रहता है और उन्नति करता है जबकि उसके अनुयायी पूर्वाग्रहो से मुक्त होकर शुद्ध धम का पालन करते हैं। अत पाठको को इस पर विचार करना चाहिए।

इस जीवन में यदि कोई थोड़ा-सा समय भी सुखमय माना जा सकता हो तो वह शिशु-अवस्था ही है। शिशु की आत्मा अपेक्षाकृत पवित्र होती है, और उसका जीवन निश्चिन्त होता है। माता के स्नेह-रक्षण में वह सुख से काल व्यतीत करता हुआ वृद्धि पाता है।

आज, उस शिशु अवस्था को पार कर बड़े हो जाने पर हमें अपनी उस अवस्था और स्थिति के स्वर्गीय सुख की स्मृति तक नही है। हम किसी शिशु को प्रसन्नतापूर्वक अपनी ममतामयी माता के आँचल मे छिपकर स्तनपान करते हुए देखते है तो अनुमान होता है कि हमने भी कभी इस आनन्द को प्राप्त किया था। माता अपने जीवन की भी चिन्ता न करके अपनी सन्तान का पालन तथा रक्षण करती है।

[1]कोमल, सीधी-सादी हरिणी भी अपने बच्चे की रक्षा के लिये अपनी सीमित शक्ति की चिन्ता न करके भयकर वनराज से भिड़ जाती है। यही बात मनुष्य के सबध मे भी है। माता का अपनी सन्तान के प्रति यह जो अदम्य प्यार है, वही अमृत-तुल्य दूध बन कर उसके स्तनो मे उतर आता है।

---

१ प्रीत्मात्यवीर्यमविचार्य मृगो मृगेन्द्रं।
नाभ्येति किं निजशिशो परिपालनार्थम् ॥

—भक्तामर स्तोत्र।

पशु-पक्षिया मे भी अपने बच्चे के लिये यही स्नेह देखने मे आता है। दिन भर जगल म उदर पूर्ति के लिये भटकवर गाय साझ होते ही अपने वच्चे से मिलने के लिए आतुर होकर घर की ओर दौड पडती है। इसी प्रकार पक्षिणी भी अपने अपने वच्चा के लिए प्रेम से भरकर अपन नीडा की ओर उडानें भरने लगती है। उसकी दृष्टि के सम्मुख आशा लगाये हुये और नीडा से झाकते हुए शावक नाच उठत हैं।

माता का अपने शिशु पर जितना अधिक स्नेह होता है उतना ही अधिक दूध उसके स्तना मे वढता है। यह अनादि काल से चला आ रहा प्राकृतिक नियम है। दुग्ध की उत्पत्ति का मूल-स्रोत हृदय है। हृदय का पूरे शरीर मे सम्बन्ध है। जब माता पुत्र पर अपना प्रवल प्रेम वरसाती है तो उसके स्तना से दुग्ध की धाराए फूट पडती हैं।

भगवान नेमिनाथ द्वारा पूव परिचय दिये जाने पर देवकी माता ने अपने छह पुत्रा को पहचाना। वह हर्ष विभोर हो गई। भगवान की वन्दना के पश्चात् ज्योहि उसने अनगार रूप म अपने पुत्रा को,देखा त्याहि वर्षों का विस्मृत प्रेम उमड उठा।

[२]उसकी आँखा म हर्ष के आँसू आ गये। भुजाए आतुर हो गई। कचुकी की कसें हर्षातिरेक से टूट गई। आहत कदम्ब पुष्प की तरह शरीर का रोम रोम पुलकित होकर खडा हो गया।

---

२ आगयर ण्हुयापप्फुयनायणा कचुयपडिक्खित्तया दरियवलयबाहा-धाराहयकलव पुप्फगमिव समूससियरोमकूवा।

—अतगडदसाग सूत्र।

हर्ष से विभोर प्रेम में पगी देवकी माता विधि पूर्वक अनगार रूप में अपने छह पुत्रों का वन्दन कर लौट गई।

स्त्री का जीवन सन्तान प्राप्ति से ही धन्य माना जाता है। जव तक उसे सन्तान न हो वह माता नही कहला सकती। और विना माँ वने नारी का जीवन अधूरा ही समझा जाता है। वन्ध्या स्त्री की गोद खाली ही रहती है और उसे चिर-काल तक दु ख का अनुभव होता है।

स्त्री का शरीर चाहे जितना सुन्दर हो, किन्तु उसके समस्त सौंदर्य के समस्त श्रृ गार का उस समय तक कोई मूल्य नही जव तक उसे पुत्र की प्राप्ति न हो। सौंदर्य की राशि नारी के स्तनो का अस्तित्व तव तक निरर्थक है जव तक कि उनका पान करने वाला उसका शिशु उत्पन्न न हो।[3]

माता : और उसकी व्यर्थ कल्पना

इसमे सन्देह को अवकाश नही कि सन्तान न होने पर दु.ख होता है। किन्तु साथ ही अधिक सन्तान होना भी दु ख का कारण वन जाता है।

सन्तान न होने पर अथवा अधिक सन्तान होने पर माता की व्यर्थ कल्पना के प्रसग मे एक शास्त्रीय दृष्टान्त पठनीय है —

एक वार श्रमण भगवान महावीर राजगृही नगरी के समीप गुणशील उद्यान मे पधारे। उनके दर्शनार्थ वहाँ स्वर्ग

---

३ सिंगारागार चारूवेसा. पडिरूवा, वंझा, जाणुकोप्परमाया, याविहोत्था।

—ज्ञाता धर्मकथा सूत्र

की देव देविया भी आई थी। एक देवी ने अपने भुजबल से बहुत से बालक-बालिकाए उत्पन्न करके भगवान के सम्मुख नृत्य किया और भगवान को वन्दन करके चली गई।

गौतम ने भगवान् से पूछा—"भगवन । यह देवी कौन थी ?"

भगवान ने बताया—"यह देवी पूव भव म मानवा थी। वाराणसी नगरी मे भद्र नामक सेठ की सुभद्रा नाम की सेठानी थी। वह अत्यन्त सुदरी थी। किन्तु उसके कोई स तान न थी। वह वन्ध्या थी। पुत्र के अभाव मे वह सदा व्याकुल बनी रहती थी। उसके स्तना का स्पश केवल घुटने और कुहनी ही करते थे, अर्थात् वह केवल घुटने और कुहनी की ही माता थी।"[४]

एक बार भाग्यवशात सुव्रता नाम की सती सुभद्रा के घर भिक्षाथ गई। सेठानी ने साध्वी का सम्मान किया। पर्याप्त एव शुद्ध आहार प्रदान किया और उसके पश्चात् उसने सती से पूछा—

"पूज्या साध्वी जी ! आप स्थान-स्थान पर विचरण करती हैं, ज्ञानवान है मैं निस्सतान हू। सन्तान की मुझे बडी कामना है। सन्तान के बिना मेरा जीवन सूना और व्यथ है। कृपया मुझे बताइये कि मुझे पुत्र प्राप्ति कसे हो ? पुत्र उत्पन्न करने के कुछ तान्त्रिक साधन भी हैं। वे साधन मुझे बताइये।

---

४ सुकुमाना वज्झा अवियाउरी जाणुकोप्परमाता याविहोत्था।
—पुष्फीया सूत्र ३ ।४

यदि किसी विद्या प्रयोग से, मन्त्र प्रयोग से, वमन प्रयोग से, विरेचन से, वस्तिकर्म-तैल आदि गुह्य स्थान मे प्रक्षेप से, औषधि से—जो आपको ज्ञात हो, यदि मुझे पुत्र मिल सकता हो या पुत्री प्राप्त हो सके तो वह कृपया वतलाए।[५]

सती ने शान्त भाव से उत्तर दिया—"ऐसा सुनना हम साध्वियो को नही कल्पता। धर्मोपदेश सुनाना ही हमारा कर्त्तव्य है।"

साध्वी के उपदेश का सुभद्रा पर पूरा प्रभाव पडा। वह अपने पति से आज्ञा लेकर सुव्रता की शिष्या वन गई। पुत्र प्राप्ति की चाह, फिर भी उसके मन मे कही न कही शेष रह ही गई। अत. जहाँ कही वह जाती, वहाँ के वालक-वालिकाओ को वुला कर अपने समीप वैठा कर उन्हे प्यार किया करती। इस कारण से उसका शिथिलाचार वढ़ गया।

मृत्यु प्राप्त कर सुभद्रा प्रथम स्वर्ग के वहुपुत्रिक नामक विमान मे जाकर उत्पन्न हुई। वही देवी यहाँ आई थी।"[६]

व्यर्थ कल्पना का फल

कहा गया है कि "मन के हारे हार है, मन के जीते जीत" —यह मन ही अच्छी अथवा वुरी अनेक कल्पनाओ का भण्डार है। मन जिस प्रकार की कल्पनाएं करता है, उसी प्रकार का जीवन भी वन जाता है।

---

५ —पुष्फिया सूत्र उपाग

६ काल मासे कालं किच्चा सोहम्मेकप्पे वहुपुत्तिया विमाणे
....वहुपुत्तीयदेवीत्ताए उववन्ना

—पुष्फिया उपांग

सुभद्रा बहुपुत्रिका देवी बन गई।

जैसा कर्म होता है वैसा ही फल भी प्राप्त होता है। पुत्र प्राप्ति की अति तीव्र लालसा के कारण सुभद्रा बहुपुत्रिका देवी बनी, फिर वह देवी अपने वहा के आयुष्य-भव को क्षय कर मनुष्य-लोक मे एक ब्राह्मण के घर सोमा नाम से पुत्री होगी।

सोमा यौवन को प्राप्त कर १६ वर्ष की वय मे युगल को जन्म देगी। ३२ वर्ष की वय तक वह ३२ बालक-बालिकाओं की माता बनेगी। इस तरह इतनी अधिक सन्तानो के कारण उसका जीवन नरक के सदृश हो जायगा। अधिक सन्तान होने पर उनमे से कोई एकाध ही योग्य होती है—

"पूत जाया ये पदमनी जटा थाडी ने जुआ घणी।"

भाग्य से अनेक सन्तानो मे कोई एक ही पुण्य शाली सन्तान होती है। शेष तो ऐसा है कि—

"माता जाया पन्नरे पूत, एक देवता चौदह भूत।"

—इस प्रकार चौदह भूतो को जन्म न देकर यदि एक ही देवता को जन्म दिया जाय तो स्त्री अधिक सुख मे रह सकती है। इससे वह अधिक यशस्वी भी बन सकती है। साधना तथा संयम के बल से वह जीवन मे सफल भी हो सकती है।

सोमा का जीवन, जैसा कि उपरोक्त वर्णन से प्रगट है, संयम के अभाव मे ही दुखी बनेगा।

[७]अधिक सन्तानो की उत्पत्ति करने वाली माता कभी सुखी नहीं हो सकती। उसके लिए माता पिता दोनो ही अपराधी

---

७ सुख से सोवे सिंहनी, एक पूत की मात।
भड़भूरी बारह जणे, जागे सारी रात॥

माने जाँयगे। वासना का परित्याग करके संयम का आराधन दोनो को करना उचित है।

अधिक जनसंख्या के कारण आज हमारे राष्ट्र की भी दुर्गति हो रही है। मनुष्य कीड़े-मकौडो की तरह उत्पन्न हो रहे है। उनका स्वास्थ्य गिरा हुआ होता है। उनमे मानसिक एव चारित्रिक शक्ति शून्य के बराबर होती है। जिस राष्ट्र के नागरिक इस प्रकार निस्तेज एवं वीर्यहीन हो, उस राष्ट्र का कल्याण कोई नही कर सकता। भारत मे आज मनुष्यो को खाने के लिये पर्याप्त अन्न का भी अभाव हो रहा है। सहस्रों मनुष्य भूख से मर रहे है। इस स्थिति को देखकर भारत सरकार अब जन सख्या पर रोक लगाने का प्रयत्न कर रही है। यह तो ठीक ही है, किन्तु उसके लिये सर्वाधिक आवश्यक यह है कि इस देश के लोग सयम को महत्ता को समझे और सयमपूर्ण जीवन व्यतीत करे।

कथन का सारांश यह है कि मनुष्य को सन्तोष का आश्रय लेना चाहिए। जब तक जीवन मे सन्तोष नही आता तब तक उसे सुख भी नही मिल सकता। किसी वस्तु के अभाव मे उसके लिए लालायित बने रहना, उसको तृष्णा करना साधक की भूल है। चाहे पुत्र हो या धन-सम्पत्ति, कोई भी वस्तु बिना पुण्य योग के प्राप्त नही होती। अतः हम सबको चाहिए कि सोमा (सुभद्रा) के जीवन से शिक्षा ले और अपने मन से तृष्णा को, व्यर्थ कल्पना को निकाल फेके। ऐसा करने से ही सुख की प्राप्ति सम्भव है। अन्यथा लोभ एवं लालच मे पड़कर यदि दु ख ही प्राप्त करना हो तो उसका कोई निदान नही।

खेत मे अनाज के साथ घास भी स्वत ही उग आता है। इसी प्रकार धम के पीछे पुण्य उदित होता है।

धम कीजिए। व्यथ वासनाओ का परित्याग कीजिए। शाश्वत सुख की प्राप्ति कीजिए। अन्यथा असयम, लोभ, वासना हमे कही का नही रखेंगी।

कहते हैं—"होनहार बिरवान के होत चीकने पात।" इसी प्रकार जो वालक भविष्य मे समाज तथा राष्ट्र का गौरव वढाने वाले होते है उनका वाल्य-काल भी कुछ विशेष परि-स्थितियो मे से ही गुजरता है।

यह कदापि आवश्यक नही है कि ऐसे महान् वनने वाले वालको को सारी सुख-सुविधाए जन्म से ही प्राप्त हों। वल्कि इसके विपरीत अधिकांश तौर पर यही देखा जाता है कि ऐसे वालक अपने वाल्यकाल मे पर्याप्त संघर्ष में से निकल कर आगे आते है। अनेक कठिनाइयो के वीच से वे अपना सुनिश्चित मार्ग वनाते हुए महानता के शिखर पर जा पहुँचते है। इतिहास ऐसे महापुरुषो के जीवन से भरा हुआ है जिन्हे अपने वचपन मे वडे-वड़े सकटो का सामना करना पड़ा।

किन्तु चिकने पातो वाले ये 'विरवान'—ये होनहार विरवान—आँधी और तूफानो की चिन्ता नही किया करते। आँधी और तूफान उनके शीश पर से गुजर जाते है। वे साहस पूर्वक उनका सामना करते है और एक दिन फिर ऐसा आता है जवकि वे विशाल वृक्ष वनकर इस ससार के मार्ग पर से गुजरने वाले अनन्त यात्रियो को छाया और विश्राम देते हैं।

माता का स्नेह वालक के जीवन मे अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। बालक सदा अपनी माता के प्रति इसी कारण ऋणी

होता है। प्रत्येक वालक को अपनी माता द्वारा स्वय पर किये गये उपकार को भली भाति समझना चाहिए और आजन्म उसे स्वीकार करना चाहिए। यदि वह अपनी माता के उपकार को समझ और अपने जीवन मे उससे मार्ग दर्शन ले तो भविष्य मे वह सफल जीवन व्यतीत कर सकता है।

आज कल इस नये युग के वालक अपनी माता के उपकार को भली भाति स्वीकार करते हो ऐसा बहुत कम देखने मे आता है। प्राचीन काल मे इसके बिलकुल विपरीत स्थिति थी। उस काल मे वालक संस्कारी होते थे और अपने पूज्य-जनो का समुचित आदर सत्कार करते थे। इस कारण उनका जीवन भी उच्च बनता था। कृष्ण सदव अपनी माता के प्रति अत्यन्त पूज्य भाव रखते थे। उनकी नित्य वन्दना करते थे। उनके उपकार को महान मानते थे। इस उपकार का बदला चुकाने के लिए ही उन्होने हिरणगमषी देव को बुलाया था।[1]

जहा तक माता का प्रश्न है वह तो अपनी सन्तान के प्रति प्रम रखती ही है। पुत्र उसका उपकार माने, या न माने वह तो अपना कर्त्तव्य निभाती ही है। अब यह सन्तान का कर्त्तव्य रह जाता है कि वह भी अपने कर्त्तव्य को समझे और उसका निर्वाह करें।

---

१ —अतगडदसाओ

२ सूनु सच्चरित सती प्रियतमा स्वामी प्रसादो‍न्मुख,
स्निग्ध मित्रमवञ्चकपरिजनो निष्क्लेशलेश मन।
आकारोरुचिर स्थिरश्च विभवो विद्यावदातमुखम
तुष्टि विष्टपहारिणीष्टदहरौ सम्प्राप्यते देहिना॥

—नीति शतक

श्रेष्ठ वातावरण, श्रेष्ठ परिस्थितियाँ पुण्य-वल से ही प्राप्त हो सकती है। पुत्र चरित्रवान होना, माता या पत्नी सती, धर्म प्रिय होना, अथवा शासक प्रसन्न-चित्त होना, ऐसे मित्र की प्राप्ति कि जो पीठ के पीछे प्रशंसा करे, स्नेह करे और हित करे, सुन्दर देह, धन-धान्य, समुचित शिक्षा, अच्छा परिवार आदि ऐसी वाते है जो पुण्य-वल से ही प्राप्त होती है।[२]

जिस समाज मे वालको की शिक्षा का समुचित प्रवन्ध नही होता उस समाज की उन्नति होना अशक्य हो जाता है। स्थानकवासी जैन समाज मे इस तरफ पर्याप्त ध्यान दिया जाता है, किन्तु यह तो ऐसा विषय है जिस पर देशव्यापी स्तर पर प्रयत्न किये जाने चाहिए। ऐसी व्यवस्था के अभाव मे अनेको होनहार वालक शिक्षा से वचित रह जाते है और उनका पूर्ण विकास नही हो पाता। उनकी अन्तर्निहित शक्तिया अविकसित ही रह जाती है। इस प्रकार समाज का स्वप्न भी अधूरा ही रह जाता है।

वालको का पूर्ण विकास हो सके, उनका भली प्रकार लालन-पालन हो सके, उन्हे पूरी शिक्षा दी जा सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि परिवार मे अधिक सन्तान उत्पन्न न हो। यदि किसी परिवार मे वहुत अधिक वच्चे होगे तो यह स्वाभाविक ही है कि माता-पिता सव बच्चो का अच्छी तरह पालन नही कर सकेगे। वह परिवार सदैव अभाव से ही ग्रस्त रहेगा। न वच्चो को पूरा और पौष्टिक आहार, जैसे दूध, घी आदि ही मिल सकेगा और न ही उनकी शिक्षा-दीक्षा का भी ठीक प्रवन्ध हो सकेगा। दूध के अभाव मे चाय के पानी पर निर्वाह करने वाले वालको का शरीर और मस्तिष्क कैसे

विकसित होगा ? अत अधिक बच्चों वाला परिवार तो एक प्रकार से एक सग्रहालय मात्र ही बन जाता है जहा अनेक प्रकार के नमूने देखने को मिलते है।

'स्वस्थ शरीर मे ही स्वस्थ मन रहता है' यह कथन विद्वानो का है। और यह सर्वा श मे सत्य है। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि बालको का शरीर पूर्ण स्वस्थ होना चाहिए। इसके साथ ही उनमे आलस्य, प्रमाद, अभिमान, क्रोध आदि दुगु ण नही होने चाहिए। यदि ये दुगु ण बालक के चरित्र मे होगे तो ये उसकी ज्ञान प्राप्ति के मार्ग मे बाधा खडी करेंगे, वह अज्ञानी ही रह जायगा। अत इन दुगु णो मे से एक भी दुगु ण बालक में नही होना चाहिए।

एक अन्य दुगु ण भी ऐसा है जो यदि बालक मे समा जाय तो वह विनष्ट हो जाता है। वह है अभिमान। इसके विपरीत विनम्रता सफलता की सीढी है। व्यक्ति ससार मे जितना विनम्र व सरल बनकर रहता है उतना ही अधिक फलता-फूलता है, विकास करता है। यह विश्व का अमर नियम है। हमने देखा है कि आधी चलने पर उसके वेग के समक्ष बडे बडे वृक्ष धराशायी हो जाते हैं, किन्तु छोटी-सी, विनम्र घास का कुछ नही बिगडता। वृक्ष अभिमान के प्रतीक है, वे विनष्ट हो जाते हैं। घास नम्रता एव सरलता का प्रतीक है, उसका अनिष्ट नहीं होता। वह तो लहराती ही रहती है।[1]

---

१ मिटा दे अपनी हस्ती को अगर कुछ मरतबा चाहे,
दाना खाक मे मिलकर गुले गुलजार होता है।
हर हाल म तू भी 'नजीर' हर कदम की खाक रह,
यह वह मकां है ओ मियाँ, यहाँ पाक रह बेबाक रह।

जीवन के विकास मे शिक्षा अत्यन्त महत्वपूर्ण एव अनिवार्य है, इसमे तो कोई सन्देह नही। किन्तु मात्र शिक्षा से ही जीवन सर्वाङ्ग सुन्दर नही बनेगा। चारित्रिक गुणो का भी विकास होना आवश्यक है। एक घोड़ा रूप-रग मे, शरीर मे बहुत अच्छा हो किन्तु अड़ियल हो, स्थान-स्थान पर रुक जाता हो तो उसका मूल्य कम हो जाता है। उसी प्रकार बालक शिक्षित तो हो किन्तु यदि उसका चाल-चलन ठीक न हो तो वह विकास नही कर सकेगा।

अतः राष्ट्र के निर्माण का स्वप्न देखने वाले बालको को चाहिए कि वे अपने परिवार की स्थिति को भली प्रकार देख-भाल कर उसके अनुरूप ही वर्तन करे। शक्ति से अधिक खर्च करके केवल वेश-भूषा और ऊपरी शृङ्गार मे अत्यधिक समय और शक्ति लगाना अविवेक है। आज भारत की जो स्थिति है, उसे देखते हुए तो यह एक प्रकार से अक्षम्य अपराध ही है।

पारिवारिक जीवन मनुष्य के जीवन मे अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। अत पारिवारिक जीवन मे किसी के प्रति उपेक्षा, किसी के प्रति पक्षपात होना बहुत बुरा है। पक्षपात से सघर्ष का जन्म होता है। सघर्ष से विनाश होता है। यह बात अच्छी तरह समझली जानी चाहिए। यदि एक परिवार के सदस्य आपस मे एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या भाव रखकर आपसी कलह मे ही डूबे रहेगे तो वे अपना विकास एव हित कैसे कर सकेगे ?

परिवार का जो भी प्रमुख व्यक्ति हो, शासन कर्त्ता हो—चाहे वह पिता हो या माता—उसे चाहिए कि वह निष्पक्षता-पूर्वक, नैतिकतापूर्वक शासन करे। शासन के नियमोपनियमो

का पालन करके ही वह घर मे आदरणीय बना रह सकता है। तभी वह देवता कहा जा सकता है, अन्यथा उसे राक्षस ही कहा जायगा।

सक्षप मे यदि कहा जाय तो सत्य यह है कि आज के बालक कल के नेता हैं। समाज एव राष्ट्र की बागडोर उनके हाथ में आने वाली है। इस उत्तरदायित्व को योग्यता पूवक वे सम्हाल सक इसके लिए आवश्यक है कि वे अपने जीवन का निमाण अपनी बाल्यावस्था से ही करें। लज्जा आदि गुणो का विकास करके उन्हे अपने जीवन को पवित्र और उन्नत बनाना चाहिए।

इसी प्रकार निरन्तर उद्यम करते हुए अपने पुरुषाथ से वे आने वाल समय म अवश्य ही देश और समाज के नता बन सकेंगे।

●

नष्टगुग सजा करूगा
भूत-कण्ठ-कृपाण हूँ मैं।
शान्ति रस का प्रपयोदा
विश्व का कल्याण हूँ मैं।

पूज्य भारत मातृ भू की,
चाहती सन्तान हूँ मैं।

जैनेतर मत में तप

तप का जीवन मे विशेष महत्व है। जिस प्रकार प्राणी को जल की आवश्यकता है, जल के बिना उसका जीवन नही चल सकता, उसी प्रकार आत्मा के लिये तप अनिवार्य है। तप के अभाव मे आत्मा मलिन हो जाती है। उसका तेज और उसकी महान् शक्तियाँ विनष्ट हो जाती है अविकसित रह जाती है।

ससार मे ऐसा कोई भी साधु-सन्त अथवा महात्मा नही हुआ होगा जिसने तपश्चरण पर बल न दिया हो और तप की अनिवार्यता को स्वीकार न किया हो। साधु वही है, जो आत्मा की शुद्धि एव उन्नति का प्रयत्न करता है। तप के बिना आत्म-शुद्धि नही होती। अपने मन और इन्द्रियो को पावन बनाये रखना ह। तप का सार है।

अगि ऋषि ने अपने दस नियमो मे यज्ञ, दान, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, व्रत, मौन, उपवास, स्नान आदि के साथ तप को भी स्थान दिया है। तप करने की इच्छा वाले व्यक्ति को अपने मन को सबल बनाना चाहिए। उसे अपनी रसना को भी सदैव वश मे रखना सीखना चाहिए। तप तभी किय। जा सकता है।

मनुष्य अपनी आत्मा की शुद्धि के लिए तप करता है। आत्मा की कोई जाति या सम्प्रदाय नही होती। अत तपया

सयम की साधना करने मे कोई जाति अथवा सम्प्रदाय आडे नहीं आता। मनुष्य किसी भी जाति का हो, किसी भी सम्प्रदाय से जुडा हो किसी भी धम को मानता हो, वह तप की साधना कर सकता है। हा, तप किस प्रकार से और किस प्रकार का किया जाय, इस परिपाटी मे अपनी अपनी मान्यता के अनुसार भेद अवश्य हो सकता है। इससे कोई बाधा भी नही आती। तप की क्रिया को आप कोई भी नाम दे दीजिए, उससे कोई अन्तर नही पडेगा। मूल बात तो तप का आचरण है। तप कीजिए और आत्मा को शुद्ध बनाइये।

मुस्लिम समाज मे रोजे होते हैं। रोजों मे दिन भर अन्न-जल ग्रहण नही किया जाता। रात्रि मे खाना-खाया जा सकता है। जैनमत मे रात्रि भोजन त्याज्य है। जो कुछ भी हो, फिर भी तप का महत्व सभी मतो मे माना गया है।

मेरा जन्म एक राजपूत (क्षत्रिय) परिवार मे हुआ। मेरा जीवन अनघड था। किन्तु प्रसन्नता इस बात की थी कि मेरी जननी धर्म प्रिया माता थी। मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि मेरी माता जी ने १४ वष महादेव का व्रत किया था। निर्जला एकादशी का व्रत माता के अनुकरण हेतु मैंने भी किया। उन्हीं दिनो मुझे तप का अनुभव प्रारम्भ हो गया था। आज ३२ वष पुरानी स्मृति उभर आई है और शुद्ध स्वप्न की तरह याद आता है कि ग्रामवासी '(ग्राम-ममीजा भोमट मेवाड) नर-नारी सामूहिक रूप से शिव पूजन के लिए जाते। उस समय नहाये-धोये, भूखे-प्यासे यात्रियो को देखकर, पता नहीं कैलाशपति कितने प्रसन्न होते होगे या नहीं, किन्तु हम अबोध बालक अवश्य ही खूब प्रसन्न होते थे क्योंकि 'तप' के फलस्वरूप हम प्रसाद प्राप्त होता था।

तप का प्रभाव उन मधुर स्मृतियो मे रह गया कि अनुभव एव ज्ञान के अभाव मे भी कितना आकर्षण था? चित्त मे शुद्ध प्रसन्नता रहती थी। तप की भावना से ही तीर्थयात्रा, स्नान, पूजन, पाठ आदि किये जाते है। यह वैष्णव मत मे तप के स्वरूप की वात हुई।

[1]आत्म-शुद्धि हेतु तप करना सनातनियो की स्मृतियों मे और उनके पाठक जनो के मन-मन्दिरो मे आज भी जहाँ है वहाँ प्रचुर है।

पूज्य गुरुजी श्री ताराचन्द जी महाराज के साथ घूमते-घामते मैंने यमुनाघाट देखा, वृन्दावन-पुष्कर के मन्दिर देखे तथा नाथद्वारा-एकलिंग चार भुजा के तीर्थ देखे। वहा मैंने अनेक योगी, सन्यासी, परिव्राजक साधना करते हुए देखे। अपने अपने उद्देश्य के अनुसार ये लोग तप की आराधना करते थे किन्तु तप की आराधना करते हुए भी मन की वृत्ति यजमानो में ही लगी रहे तो तप का फल पूर्ण रूप से प्राप्त नही हो सकता।

---

१ "तप में तीन वस्तुएं—चित्त शुद्धि, निर्माण शक्ति तथा ज्ञान। तप करते समय अन्तिम दोनो के विषय मे अनासक्ति हो तो तीनो की प्राप्ति होगी।"

"अपने पहले किये हुये तपश्चरण को न गँवाते हुये आगे कदम वढ़ाना सुधार है।"

"तप और ताप के बीच की विभाजन रेखा जानना जरूरी है।"

चित्त धोने के लिये उपयोगी मृत्तिका—तपस्या। जल—हरिप्रेम।"

—'विचार पोथी' विनोबा।

'अहिंसा का पालन, सत्य का आचरण, सरल निर्मल जीवन बनाये रखना माया ममता से दूर रहना ही परम तप माना गया है क्योंकि इन्हीं साधना से धर्म की प्रवृत्ति होती है।

वदिक परपरा मे तप की अनेक क्रियाएं चलती है। उनके सम्बन्ध मे जन मान्यता का मतभेद हो सकता है, और है भी। प्रत्येक क्रिया के साथ जो हिंसा है, मिथ्यादर्शन है, अज्ञान है, रूढिवाद है—उसका विरोध तो हमारा स्याद्वाद दर्शन, जो कि शुद्ध सत्य तथा अहिंसा एव ज्ञानादि के आधार पर खडा किया गया है करेगा ही।

'जो कुछ भी हो, इतना तो निश्चय है ही कि किसी भी प्रकार के कष्ट को सहे बिना तप नही हो सकता। उपवास, एकाशन या शीलादि व्रत-पालन मे कष्ट है, वही तो तप है। स्व-पर-दया का पालन करते हुए ज्ञानपूर्वक तथा स्वेच्छा से शुद्ध व्रत का पालन किया जाना ही तप है। शुद्ध ज्ञान तथा क्रिया के सहारे हमारी देह तपोमय बने, विचार तपोमय बनें, वाणी तप पूत बने—यही सच्चे तप का स्वरूप है।

तप की साधना करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को व. का त्याग करना चाहिए। प्रत्येक जीव के प्रति, उसके मन मे सन्ताप होना चाहिए। हृदय सरल होना चाहिए, मन एव

---

२ अहिंसा परमो धर्म स्तथा हिंसा पर तप।
अहिंसा परम सत्य, ततो धर्म प्रवर्तते॥

—महाभारत

३ अद्रोह सर्वभूतेषु, सन्तोष शीलमार्जवम्।
तपो दमश्च सत्य च, प्रदान चेति धर्मकम्॥

—महाभारत

-- -

इन्द्रियों पर अधिकार होना चाहिए। ऐसे व्यक्ति को सत्य, दान तपश्चर्या का आश्रय लेना चाहिए। ये सब गुण एक-एक करके भी बढ़े-चढ़े हमारे ग्रंथों में और भी बढ़कर हैं। स्पष्ट है कि सनातन मान्यता में भी तप का महत्त्व कम नहीं है, क्योंकि वहाँ जो कुछ भी माना गया है।

'स्नान से देह शुद्धि करना, ज्ञान से विचार शुद्धि करना, खान-पान में सन्तोष करना, जितना शक्य हो उतना तप नित्य करना, आप्त पुरुषों की वाणी का समय-समय पर मनन-चिन्तन करते रहना, निरंजन-निराकार का योग्यतानुसार ध्यान करना — ये सब कर्म मानवता को जगमगाने के तथा आत्म-कल्याण के उज्ज्वल कर्म माने गए हैं।

सार यह है कि कोई भी धर्म हो, चाहे बौद्ध-धर्म या ईसाई धर्म अथवा अन्य कोई भी धर्म—प्रत्येक में तपश्चर्या को महत्व दिया गया है। अतः उसी पाठक को विवेकशील कहा जायगा जो इस कथन को हृदयगम करके अपने जीवन रूपी मन्दिर पर त्याग तथा तप का उज्ज्वल कलश चढ़ाएगा।

४ शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

—योग दर्शन।
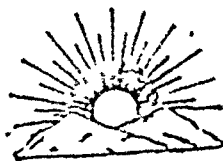
अधिकार बड़ी प्रिय लगने वाली वस्तु है। प्रत्येक व्यक्ति चाहेगा कि उसे अनेक प्रकार के अधिकार प्राप्त हो। ठीक भी है, मानव चरित्र के विकास के लिए अनेक अधिकारो का प्राप्त होना अनिवार्य है। उदाहरण के लिए प्रत्येक व्यक्ति को सुखी जीवन जीने का अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्र जीवन का अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार होना चाहिए कि वह अपने जीवन का निर्माण करने के लिए ऊँची से ऊँची शिक्षा प्राप्त कर सके। उसे यह अधिकार होना चाहिए कि वह अपने तथा अपने परिवार के पालन पोषण के लिए उचित तरीके से द्रव्योपार्जन कर सके--आदि आदि।

ये सब अधिकार मनुष्य को प्राप्त होने ही चाहिए बल्कि इनके अतिरिक्त भी अनेक अन्य प्रकार के अधिकार हैं, जो मनुष्य को प्राप्त होने चाहिए और उसे प्राप्त है भी। स्थानाभाव के कारण यह सम्भव नही है कि व्यक्ति को जितने भी प्रकार के अधिकार प्राप्त होने चाहिए उन सबका उल्लेख यहाँ किया जा सके। ऐसा प्रयोजन भी हमारा नही है। हम तो यह बताना चाहते है कि अधिकार का वास्तविक अर्थ क्या है? उसका महत्व क्या है और उसका सही प्रयोग किस प्रकार किया जाना चाहिए?

इस एक चित्र के दो पक्ष है। एक ओर तो अधिकार है ही, किन्तु दूसरी ओर कर्त्तव्य है। कोई भी अधिकार ऐसा नही है जिसके साथ कोई कर्त्तव्य जुडा हुआ न हो। अधिकार की उपमा उस सिक्के से भी दी जा सकती है, जिसके सदैव दो पहलू होते है। ऐसा तो कोई सिक्का हो नही सकता जिसका केवल एक ही पक्ष हो। इसी प्रकार ऐसा कोई अधिकार भी नही हो सकता जिसका दूसरा पक्ष न हो, अर्थात् ऐसा कोई अधिकार है ही नही, जिसके साथ कोई कर्त्तव्य जुडा हुआ न हो।

उदाहरण के लिए आप किसी भी एक अधिकार का विवेचन कर लीजिए। मान लिया कि प्रत्येक व्यक्ति को जीने का अधिकार है। तव क्या इसके साथ ही प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य नही है कि वह यदि स्वयं जीने का अधिकार माँगता है तो दूसरे को भी जीने दे? यह उसका कर्त्तव्य है कि वह दूसरो को भी जीने दे। उसका यह कर्त्तव्य उसके जीने के अधिकार के साथ ही जुडा हुआ है—चित्र के अथवा सिक्के के दूसरे पक्ष की तरह।

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आजीविका चलाने के लिए तथा अपने परिवार का पालन करने के लिए द्रव्य का उपार्जन करने तथा उसकी रक्षा करने का अधिकार है। उसका यह अधिकार है कि कोई उसकी सम्पत्ति उससे नही छीने। तव इसके साथ ही उसका स्वयं का भी यह कर्त्तव्य है कि वह किसी अन्य व्यक्ति की सम्पत्ति का अपहरण न करे, उन्हे सम्पत्ति उपार्जित करने दे। क्या कोई ऐसा व्यक्ति हो सकता है, कि जो कहे कि मुझे सम्पत्ति रखने का अधिकार है, लेकिन अन्य किसी को भी यह अधिकार नही है। मै तो सवकी सम्पत्ति

छीन लूंगा, मैं अपना कोई कर्त्तव्य स्वीकार नही करता। यदि कोई व्यक्ति ऐसा कहता है तो आज के युग म कोई भी उसकी बात को स्वीकार नही करेगा।

हमारे कथन का आशय यह है कि मनुष्य के लिए अनेक प्रकार के अधिकार अनिवाय ह। इन अधिकारो पर ही उसका जीवन आश्रित है जीवन का विकास आश्रित है। किन्तु जो मूल बात है वह यह कि मनुष्य को अपने अधिकारो का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए? यदि वह नही जानता कि उसे अपने प्राप्त अधिकारो का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए तो वह उनका दुरुपयोग करके अपनी हानि तो करेगा ही, साथ ही अपने समाज तथा राष्ट्र की भी घोर हानि करेगा। किसी ऐसे व्यक्ति को महत्त्वपूर्ण अधिकार दिए जाना, जो कि उनका उपयोग करना नही जानता, या उनका गलत उपयोग करता है—ठीक उसी प्रकार है जसे बन्दर के हाथ मे तलवार आ जाने पर कोई विश्वास नही कि वह उससे स्वय अपना ही गला काट बठे (यह देखने के लिए कि तलवार कितनी तेज है) अथवा अपने स्वामी की ही हत्या कर बठे।

[1]उत्थान, कम, बल आदि जीवन की उन्नति करने वाले गुण हैं। इसके साथ ही उचित अधिकारो की प्राप्ति भी जीवन के विकास मे सहायक होती है। अत अधिकारो का भली-भांति

---

१ उत्थान कम, बल, वीय, पुरुषाकार, पराक्रम—य लब्धिकरण वाय हैं।

भगवती० श० १ उ० ७

समझ और जान लेना बुद्धिमान व्यक्ति के लिए परम आवश्यक है। अधिकारो को प्राप्त करने से पूर्व उनकी पूर्व भूमिका का निर्माण अवश्य ही किया जाना चाहिए।

आज प्रजातन्त्र का युग है। प्रजा चुनाव द्वारा अपने नेताओ को चुनकर उन्हे शासन की शक्ति, शासन के अधिकार देती है। अव नेता का क्या कर्त्तव्य होता है ?

नेता या अधिकारी का कर्त्तव्य है कि वह अपनी पूरी शक्ति लगाकर निष्ठा तथा नैतिकता पूर्वक ईमानदारी से जनता की सेवा करे। यदि वह ऐसा नही करता तो अधिकार पाकर अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है। ऐसे नेता या अधिकारी को केवल एक ही संज्ञा दी जा सकती है—वह है देश-द्रोही की संज्ञा। ऐसे व्यक्ति जो कि अधिकार प्राप्त करके उनका उपयोग जनता जनार्दन के लिए न करके अपने स्वय वे क्षुद्र स्वार्थो की पूर्ति के लिए करते है, वे देश-द्रोही है, समाज द्रोही है—वे मनुष्य के रूप मे नर-पिशाच है, क्योकि वे उन पर किये गये विश्वास को तोडते है, मनुष्य का अपमान करते है। ऐसे व्यक्तियो को जितनी भी सजा मिले वह थोडो ही कही जायगी।

यह निश्चित है कि कोई भी व्यक्ति अपने द्वारा किये गए दुष्कर्म का फल पाये विना नही रह सकता। एक समय आता है जव हमे अपने कर्मो का समुचित फल भोगना ही पडता है। हम जैसा करेगे, वैसा ही हमे भोगना भी पडेगा।

राम आये, उन्होने जनता का आदर किया, जनता की सेवा की तो वे मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाए। जनता ने उनका आदर किया, उनकी पूजा की।

एक रावण भी आया। उसने अपनी शक्ति और अधिकारो का दुरुपयोग किया। इससे उसका विनाश हुआ। कहते हैं कि उसके द्वार पर देवता भी उसकी आज्ञा पालन के लिए हाथ जोडे खडे रहते थे। यह सच हो अथवा नही, किन्तु इससे इतना तो प्रगट होता ही है कि वह अतुल शक्ति का स्वामी था। तब उसकी शक्ति कहा गई ? उसकी शक्ति उसके अन्याय के साथ समाप्त हो गई।

अधिकार का मद बडा भयकर होता है। इसके मद मे चूर होकर व्यक्ति भले-बुरे, उचित-अनुचित का भान भूल बैठता है। वह सोचने लगता है कि सारे ससार का स्वामी एक वही है। किन्तु क्या यह ससार कभी किसी का हुआ है ? बडे बडे पृथ्वी पति हुए और चले गये। पर, ससार किसी के भी साथ नही गया।

अधिकार प्राप्त हो जाने के बाद भी जिसके हृदय मे स्नेह नही उमडता, जो प्रेम की रीति को नही जानता, जिसका हृदय शुष्क हो बना रहता है जन जन मे जो सहानुभूति से व्यवहार नही करता वह कदापि नेता बनने के योग्य नही है। उसे समाज के मार्ग दर्शन के अधिकार प्रदान नही किये जाने चाहिए। अभिमान के वश मे होकर वह लोगो को डरा धमका तो सकता है किन्तु उसकी धमकिया थोथी ही साबित होती है, क्योकि उसके पास सत्य की शक्ति नही होती।

---

* जा घट प्रेम न सचरे सो घट जान मसान।
  जस खाल लुहार की स्वास लेत बिन प्रान॥

[3]अधिकार जिस व्यक्ति को प्रदान किए जाँय उसे अपना कर्त्तव्य भी भली प्रकार समझ कर ससार की असारता को समझना चाहिए। क्षणिक सुख के मोह मे न पड़ कर उसे परमार्थ की ओर दृष्टि रखनी चाहिए। जो व्यक्ति ऐसा कर सकता है वह अधिकारो का सही उपयोग भी करेगा और अवश्य ही महापुरुष बनकर यशस्वी होगा।

जहाँ तक साधु जीवन का प्रश्न है, साधुओ के लिये भी एक निश्चित आचार है। प्रत्येक साधु को उस उच्च आचार का पालन करना चाहिए। गोचरी का अधिकार साधु का है, तो उसे सदोप भिक्षा नही लेना चाहिए। मर्यादा तोड कर आहार की मात्रा नही बढाना चाहिए। जिह्वा के वश मे होकर भिक्षा की खोज करना अनुचित है।

साधु को चाहिए कि वह माया न करे, वाचाल न हो, अभिमान तथा लोभ न करे, छोटे-बड़ो के भोजनादि का ठीक सविभाग करे। यदि उपर्युक्त आचार नही पालता है तो वह पाप श्रमण कहा जायगा। खा-पीकर दिन भर पडा रहना, बहुत निद्रा लेना, बड़ो का विनय न करना दूध-दही का अधिक सेवन करना, शान्त विवाद को पुन. खडा करना—यह सब पाप श्रमणो के लक्षण है। ऐसे श्रमण-श्रमणी अपने प्राप्त अधिकारो का दुरुपयोग करते है। उन्हे ऐसा नही करना चाहिए।[4]

---

३ झूठे सुख को सुख कहे मानत है मन मोद।
जगत चबैना काल का कछु मुख मे कछु गोद॥

४ बहुमाई पमुहरे, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे,
असविभागी अवियत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चइ।

उत्तरा० अ० १७ गा० ११

साराश यह है कि अधिकार बडी ही आवश्यक एव महत्व-पूर्ण वस्तु है। प्रत्येक मनुष्य को अत्यन्त विवेक पूर्वक उनका उपयोग स्वय अपने जीवन के उत्थान तथा समाज एव राष्ट्र के हित के लिए करना चाहिए।

यह कभी नही भूलना चाहिए कि अधिकारो तथा कर्त्तव्यो का चोली दामन का साथ है। वे सदव साथ-साथ चलते हैं।

एक वाक्य मे वह तो एक चित्र के दो पक्ष हैं—अधिकार और कर्त्तव्य।